GAVESHNA
1964 G. K. U.

GAVESHNA

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार को सादर भेंट

गवेषणा

[केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल की अर्द्ध वार्षिक शोध पत्रिका]

सम्पादक

बालकृष्ण राव, व्रजेश्वर वर्मा

सह-सम्पादक

न० वी० राजगोपालन

वी० रा० जगन्नाथन

प्रकाशक

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा

वर्ष २] सितम्बर १९६४ अंक ४]

सचिव
केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल
गांधी नगर, आगरा

मूल्य
तीन रुपया

मुद्रक
जगदीश प्रसाद, एम० ए०
दी एजुकेशनल प्रेस, आगरा

सूचनिका

गोपाल शर्मा

★

शिक्षा की शब्दावली

धर्म, समाज व्यवस्था और राजनीति के समान ही शिक्षा की कल्पना भी बहुत प्राचीन है। अत्यन्त व्यापक अर्थ में जीवन भर ही शिक्षा चलती रहती है।[1] प्रत्येक व्यक्ति घर में, पाठशाला में, व्यवसाय में, सामाजिक सम्पर्क में कुछ न कुछ सीखता जाता है और अपने अनुभवों और व्यवहारों में सुधार करता जाता है। इतना व्यापक अर्थ न लेकर यहाँ औपचारिक शिक्षा और तत्सम्बन्धी शब्दावली पर ही विचार किया जाएगा। शिक्षा की व्युत्पत्ति शिक्ष+अ (टाप्) होती है। इसका अर्थ होता है किसी विद्या को सीखने या सिखाने की क्रिया। इसका अकर्मक, सकर्मक दोनों रूपों में प्रयोग होता है। अर्थात् इसमें शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों की गतिविधियाँ सम्मिलित होती हैं। शिक्षा में वस्तुतः चार वस्तुएँ प्रधान हैं :—शिक्षार्थी, विद्या, शिक्षण और शिक्षक। इनकी पाश्चात्य कल्पनाएं educand, subject, education (instruction), educator हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त भी कई कल्पनाएँ हैं जो इनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

शिक्षा शब्द का विशेष विवेचन किया जाय तो इसके तीन प्रधान अर्थ हैं—1. सीखना-सिखाना, 2. व्युत्पत्ति-ध्वनि शास्त्र, एक वेदाङ्ग 3. शासन या दण्ड। प्राचीन काल में शिक्षा का पारिभाषिक अर्थ में व्यवहार वेदाङ्ग विशेष के लिए अधिक होता था। शिक्षा को अनौपचारिक ढंग से सामाजिक व्यवहार या आवश्यकता माना जाता था। शिक्षा एक शास्त्र के रूप में विकसित नहीं हुई थी। संस्कृत व्याकरण में शिक्ष धातु से शिक्ष+ल्युट्=शिक्षण, तथा शिक्ष+टाप्=शिक्षा इस प्रकार दो शब्द उपलब्ध होते हैं। 'शिक्षण' का अर्थ सिखाना

---

1. 'यावज्जीवमधीते विप्रः'—एक संस्कृत सूक्ति.

या पढ़ाना है[1] अर्थात् वह विशेष क्रिया का बोधक है जो कि शिक्षात्मक है पर शिक्षा नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्रोच्चार, वेदीनिर्माण, ब्रह्मचर्य, गुरु-सेवा आदि समग्र रूप से तो शिक्षा है, परन्तु शिक्षण क्रिया आचार्याश्रित है। उसका रूप पाठ, अध्ययन, दृष्टान्त, आचार्यों की उपदेश-विधि आदि में निहित है। आचार्य और ब्रह्मचारी की सम्मिलित गतिविधियों का परिणाम 'शिक्षा' है। इसी अर्थ में अँग्रेजी शब्द education (शिक्षा) और teaching या instruction (शिक्षण) प्रयुक्त होते हैं।

शिक्षा की कल्पना सामाजिक धारणाओं पर आश्रित होती है, क्योंकि शिक्षार्थी की तैयारी इस दृष्टि से की जाती है कि वह समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सके और एक सक्षम सदस्य की तरह अपना जीवन-यापन करते हुए सामाजिक परम्पराओं और आकांक्षाओं को आगे बढ़ा सके। अतएव 'शिक्षा के उद्देश्य' (aims of education) होते हैं। वैसे सर्वसामान्य उद्देश्य तो शिक्षार्थी का विकास (development) है। परन्तु विकास की विविधता समाज के गठन पर निर्भर होती है। जैसे प्राचीन भारत में ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की शिक्षा एक सीमा तक तो समान थी, परन्तु उनके भविष्य के कर्त्तव्यों के अनुसार विशेष शिक्षा भी दी जाती थी; जैसे, क्षत्रियों को विशेष रूप से धनुर्विद्या और दण्ड की शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मणों की शिक्षा में यज्ञादि के आयोजन का विशेष महत्त्व था। सामान्यतः शिक्षा के व्यापक उद्देश्य सूक्तियों के रूप में व्यक्त किये गए हैं—जैसे 'सा विद्या या विमुक्तये'[2] 'तेजस्वि नावधीतमस्तु'[3] 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते'[4] 'विद्यामयंदैवतम्'[5] 'बुद्धिर्य

---

1. (i) काव्य शिक्षयाऽभ्यासः काव्य प्रकाश—1, याज्ञवल्क्य 1/15.
   (ii) शिक्षेतिश्रुतेरंगम्; अमरकोश; व्याख्यासुधा तथा शुक्रनीति 4/382.
   (iii) लक्षणा से दण्ड—'अच्छी शिक्षा मिली' कुछ भारतीय भाषाओं में शिक्षा दण्ड के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है और 'एजुकेशन' के अर्थ में शिक्षण शब्द का व्यवहार किया जाता है। हिन्दी में 'दण्ड' के अर्थ में 'सीख' शब्द का प्रयोग होता है। प्राचीन संस्कृतियों में सम्भवतः दण्ड और शिक्षा घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थे।
2. संदर्भ नहीं मिला।
3. कठोपनिषद् 2/ 3/19.
4. गीता 4/38.
5. भर्तृहरि नीतिशतक 20.

स्यबलं तस्य'[1], 'ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रम्'[2] 'विद्ययाऽमृतमश्नुते'[3] इत्यादि। परन्तु ज्ञान (knowledge) ही सर्व-प्रधान नहीं था। यदि विद्याध्ययन से शिक्षार्थी में क्रियावत्ता नहीं आती थी तो वह पंडित नहीं माना जा सकता था। महाभारत में कहा है—

पठकः पाठकश्चैव ये चान्ये शास्त्र पाठकाः।
सर्वे व्यसनिनो ज्ञेया यः क्रियावान्सपंडितः ॥ 3/313/110.

आधुनिक शिक्षा-शास्त्र में इस तरह के अनेक विचारों को आधार मानकर शिक्षा की व्यवस्थाएँ की गई हैं। प्राचीन उद्देश्यों की स्थापना में धर्म, दर्शन और नीति सम्बन्धी शब्दों का बाहुल्य है, जैसे, सत्यं वद, धर्मं चर, विमुक्ति, शील, विनय, निश्रेयस्, अभ्युदय इत्यादि। शिक्षा-सिद्धान्त का दर्शन से प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द त्रिऋण है[5]—पहला ऋण वेदों का है जिसे यज्ञादि सीखकर, दूसरा ऋषियों का है जिसे उनके शास्त्रों का अध्ययन कर तथा तीसरा पितरों का है जिसे सन्तान के द्वारा चुकाया जा सकता है।

भारतीयों ने सम्भवतः शिक्षा के अलग दर्शन की कल्पना नहीं की थी। पश्चिम में भी यह विचार बाद ही में विकसित हुआ। इसी तरह शिक्षा के सिद्धान्त (Principles of Education) अवश्य उपलब्ध होते थे। किन्तु शिक्षा-शास्त्र का निश्चित, विशेषीकृत विकास न होने के कारण वे छोटी-छोटी सांकेतिक उक्तियों में बद्ध नहीं हुए। अतएव प्राचीन शब्दावली के अध्ययन के लिये शिक्षार्थी, विद्या, शिक्षण और शिक्षक शब्दों को आधार मानकर विचार करेगा।

संस्कृत में शिक्षार्थी के समान अर्थ वाले अनेक शब्द मिलते हैं, जैसे शिष्य, विद्यार्थी, छात्र, अध्येता। शिष्य शब्द का प्रयोग भगवद्गीता में द्वितीय अध्याय के सातवें श्लोक में हुआ है।

---

1 पंचतंत्र मित्रभेद-कथा—8 श्लोक 237.

2 सुभाषित रत्न संदोह, पृष्ठ 194.

3 ईशवास्योपनिषत् मंत्र 11.

4 श्लोक 237

5 जयमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिऋणवांजायते। यज्ञेन देवेभ्यो, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्य प्रजयापितृभ्यः। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण, 1/5/5

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।

(अर्जुन ने कृष्ण से कहा है कि जो कल्याणकारी साधन हो उसे बताइए, क्योंकि मैं आपका 'शिष्य' हूँ, इसलिए मुझे शिक्षा दीजिए) यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध का द्योतक शब्द है जिसमें मात्र औपचारिक (फ़ार्मल) शिक्षा का भाव नहीं है। शिष्य शब्द की व्याख्या है 'शिष्यते असौ' और (शास+क्यप्) । इस प्रकार यह प्रधानतः चेला (अनुयायी, जैसे disciple of Christ) के अर्थ में प्रयुक्त होता है । परन्तु इसका अर्थ शिक्षार्थी भी होता है । गौतम ने शिष्य शब्द का प्रयोग औपचारिक रूप से पढ़ने वाले के लिए ही किया है । दोषों के लिए दण्ड-विधान करते हुए उन्होंने सुधार के साधन इस प्रकार बताए हैं— 'शिष्यशिष्टिरवधेन । अशक्तोरज्जुवेणु विदलाभ्याम् । अन्येनघ्नन् राजाशास्यः' । (1/2/48,53) । यहां शिष्य का अर्थ विद्यार्थी है । 'विद्यार्थी' की व्युत्पत्ति विद्या-अर्थ+इन्, विद्या पढ़ने वाला, होती है । यह शब्द विशेषार्थवाचक भी है—त्रयी-विद्या, आन्वीक्षिकी विद्या पढ़ने वाला ।[1] परन्तु आज सामान्य भाषा में इसका प्रयोग सभी शिक्षार्थियों के लिए हो रहा है । इसका कारण 'विद्या' शब्द का सामान्य शिक्षा के अर्थ में प्रयोग है ।[2]

'छात्र' शब्द (छत्र+ण) भी शिष्य और विद्यार्थी के लिए प्रयोग में आता है । इसकी व्युत्पत्ति 'छत्र' शब्द से की जाती है अर्थात् गुरु के लिए छत्र (आतपत्र) धारण करने वाला । यह सेवा-वृत्ति का द्योतक है । परन्तु पतंजलि ने छत्र शब्द की व्याख्या इस प्रकार नहीं की । उन्होंने बताया है, छत्र गुरु है क्योंकि वह शिष्य को आच्छादित करता है अर्थात् शिष्य के अज्ञान को दूर करता है—

---

1. प्राचीन काल में ज्ञान की शाखाओं का अध्ययन करने वालों को विशेष संज्ञाएँ दी गई थीं–छन्द का अध्ययन करने वाला छान्दस्, व्याकरण पढ़ने वाला वैयाकरण, निरुक्त का विद्यार्थी नैरुक्त, सूत्रों का अध्ययन करने वाला सूत्रिक (पाणिनीय अष्ठाध्यायी 4/2/59-60), काशकृत्स्नी मीमांसा का अध्ययन करने वाली काशकृत्स्ना कहलाती थी । (पाणिनि 4/1/14 पर वार्तिक 5 पर महाभाष्य 2 Education in ancient India, *Altekar*, page 208.)
2. सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्—सुभाषित ।

गुरुणा शिष्यश्छत्रवत् छाद्यः
शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः ।
(महाभाष्य 4. 4: 62)

इस तरह इस अर्थ में एक ओर तो अभिभावक (गार्डियन) भाव है और दूसरी ओर सेवा-भाव । यह आचार-धर्म मूलक शब्द है । अध्ययन से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है । अध्येता शब्द का प्रयोग सामान्य विद्यार्थी के अर्थ में ही होता है । वह विशेष क्रिया अर्थात् अध्ययन का द्योतक शब्द है और क्रिया-प्रधान अभिव्यक्ति में ही लिखा जाता है । ऐसा ही शब्द अंग्रेजी का educand है जिसका सामान्य साहित्य में प्रयोग नहीं होता ।

हमने छात्र शब्द की चर्चा में देखा कि विद्यार्थियों को उनके कुछ विशेष गुणों के कारण अलग-अलग नामों (शब्दों) से सम्बोधित किया गया है । इसी प्रकार का दूसरा शब्द है अन्तेवासिन्[1]—सीमा पर रहने वाला । जो शिष्य सदा अपने शिक्षक के समीप रहकर विद्याध्ययन करता था अर्थात् गुरु के आश्रम में रहकर पढ़ता था उसे अन्तेवासिन् कहते थे । इसीलिए यह अंग्रेजी के शब्द boarder के निकट है । अल्तेकर ने लिखा है—'प्राचीन भारत की गुरुकुल-पद्धति का महत्वपूर्ण लक्षण यह था कि विद्यार्थी को अपने घर से दूर आचार्य के घर जाकर रहना पड़ता था या किसी विख्यात छात्रालय में भरती होना पड़ता था' ।[2] छान्दोग्योपनिषद् में इसका अर्थ 'आचार्य कुलवासी' दिया गया है और इसे विद्यार्थी के सामान्य अर्थ में भी लिखा गया है । जिनकी शिक्षा समाप्त हो चुकी हो या शिक्षा सम्बन्धी कोई संस्कार हो चुका हो उन्हें विशेष नाम से सम्बोधित किया जाता था । 'दीक्षित' (मनु 2/128) शब्द इसी प्रकार का है । जिस शिष्य को मन्त्रोच्चार, यज्ञादि की शिक्षा दी जा चुकती थी वह दीक्षित कहलाता था । कम वय का होने पर भी उसे आदर देने का विधान है । 'श्रोत्रिय' शब्द में जन्म, संस्कार और विद्याध्ययन तीनों का भाव है[3] ।

---

1. छात्रान्तेवासिनो शिष्ये—अमरकोष तथा शिशुपालवध 3/55 Vedic Index Vo. 1, page 83.
2. Education in Ancient India; *Altekar,* page 30.
3. वेदेकनिष्ठं धर्मज्ञकुलीनं श्रोत्रियम् शुचिम्..............पादटिप्पणी काणे पृष्ठ 324.

श्रोत्रिय शब्द वेदार्थों का प्रवचन करने वाले अध्यापक के लिए भी प्रयुक्त होता था।

'ब्रह्मचारी' भी इस श्रेणी का एक विशिष्ट शब्द है।[1] उपनयन संस्कार से जो बालक ब्रह्मचारी बनकर गुरु के साथ विद्याध्ययन के लिए चला जाता था उसे ब्रह्मचारी कहते थे। यह संस्कार-द्योतक शब्द है। इसके अनेक कठोर कर्त्तव्य होते थे जिनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है। जो विद्यार्थी गुरु को अकारण छोड़कर चला जाता था उसे 'तीर्थकाक'[2] कहा जाता था। बौद्ध शिक्षा में शिक्षार्थी को पहले श्रामणेर (Probationer) बाद में पक्के शिष्य बनने पर सद्विहारिक की संज्ञा दी गई है। वह ब्रह्मचारी की तरह बौद्ध बिहार में जाकर संघ का सदस्य बनता था।[3] छात्रकाल के बाद भी अध्ययन करने वाले को 'चरक'[4] कहते थे।

'विद्या' सम्बन्धी शब्दों में अब आधुनिक विचार के Curriculum शब्द में सम्मिलत होने वाली शब्दावली का विचार किया जा रहा है। इसके दो भाग किए जा सकते हैं—पाठ्य-सम्बन्धी और आचरण-सम्बन्धी। पाठ्य-वस्तु सम्बन्धी शब्द शास्त्रों के नाम हैं—त्रयी (तीनवेद), आन्वीक्षिकी (कौटिल्य के मतानुसार सांख्य, योग इत्यादि), वार्ता (कृषि-व्यापार) दण्ड (शासन-राजनीति)। बौद्ध शिक्षा में जातक, पिटक, व्याकरण, शास्त्र-विद्या, आयुर्वेद, शल्य, शालिहोत्र आदि सारे शास्त्रों और विज्ञानों के नाम हैं। प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त विषय, विज्ञान, संग्रह, टीका आदि के द्योतक प्रत्यय यहाँ दिये जा रहे हैं।

—विद्या (शस्त्र-विद्या, आत्मविद्या इत्यादि)—ज्ञान-विज्ञान (विदन्ति अनया विद्-क्यप् + टाप्)

---

1 इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभेवत्—अथर्ववेद 5/1/19.

2 यों गुरुकुलं गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति—पाणिनि 2/1/42.

3 Indian Education in Ancient and Later times by *R. E Key*, page 89.

4 Vedic Index: *Macdonell & Keith*, Vol. I, page 256.

—शास्त्र (नीति शास्त्र, धर्मशास्त्र आदि)[1] धार्मिक ग्रंथ, ठीक क्रम से संगृहीत ज्ञान, व्यावहारिक आदर्शों का निर्धारक ग्रंथ (शिष्यते अनेन शास्+ष्ट्रन)

—उक्-ई (आन्वीक्षिकी, भौतिकी) श्रवण और पठन के उपरान्त परीक्षण या समीक्षा (अनु+ईक्ष+ठ+ङीप्=आन्वीक्षिकी) आज विज्ञानों के अर्थ में 'इकी' अधिक मात्रा में लगवाया जा रहा है, जैसे भौतिकी, स्थैतिकी।

—नीति (राजनीति, युद्ध-नीति)—आदर्शपरक या व्यावहारिक पथप्रदर्शक ज्ञान (नी+क्तिन्—नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादयः अनया)

—मिति-(ज्यामिति) मापने का शास्त्र, जमीन मापने का शास्त्र(geo+metry) ज्यामिति

—पुराण-(विष्णु-पुराण, ब्रह्म पुराण) इतिहासात्मक धर्मग्रंथ (पुरा+नी+वुञ् नि०) शुक्रनीति-सर्गश्च-प्रतिसर्गश्चय इत्यादि 4/83

संहिता—(चरक-संहिता) व्यवस्थित संकलन, प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ (संहित+टाप्)

स्मृति—(मनुस्मृति, नारद-स्मृति) धर्मशास्त्र (स्मृति-क्तिन्) श्रुतिस्तुवेदोविज्ञेयो धर्मशास्त्रं तुवै-स्मृतिः। मनु 2/10

सूत्र —(धर्म-सूत्र) संक्षिप्त या कम शब्दों में वर्णित सिद्धान्त (सूत्र+अच्)

भाष्य —(महा-भाष्य) टीका, टिप्पणी, व्याख्या, (भाष्+ण्यत्)

इनके अतिरिक्त भी अन्य तरीकों से विषयों के नाम रखे गये हैं–जैसे ज्योतिष (विद्या), शालिहोत्र (घोड़ों की चिकित्सा), व्याकरण (शास्त्र) इत्यादि। बौद्ध साहित्य में 'पिटक' शब्द भी उत्तर पद के रूप में प्रयुक्त होता था, जैसे धम्म-पिटक, त्रिपिटक, इसका अर्थ होता है—पिटारा या पेटी, यहां 'खण्ड'।[2] इसी प्रकार 'जातक' धार्मिक कथा-संकलन के अर्थ में जोड़ा जाता था।

एक बड़े विषय के अन्तर्गत कई परस्पर सम्बद्ध विषय हों तो उन्हें अंग

---

[1] यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते काम कारतः न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्। भगवद्गीता 16/23.

[2]. हिन्दी शब्द सागर : खण्ड 2 : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1925 पृष्ठ 2115.

कहा जाता था, जैसे वेदांग (शिक्षा, व्याकरण आदि)। इनको हम आधुनिक विशेषीकरण (specialisation या branch) का रूप मान सकते हैं।

इन विषयों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में व्यावहारिक शिक्षा का भी बड़ा महत्त्व था। आयुर्वेद, शल्य, धनुर्विद्या आदि को प्रयुक्त विज्ञान (applied sciences) कहा जा सकता है। आचरण की शिक्षा बड़ी कठोर होती थी जिसे लम्बे वाक्यांशों द्वारा व्यक्त किया गया है। बौद्ध शिक्षा का जीवन इससे भी अधिक अनुशासित है।

भारतीय शिक्षा शब्दावली में संस्कारों की शब्दावली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि संस्कार बालक के जीवन क्रम और व्रत का निर्धारण करते थे। उन्हीं से आचरण का नियमन होता था। उन्हीं के कारण उसे 'द्विज' (दुबारा उत्पन्न) कहा जाता था (संस्कारात् द्विज उच्यते)। शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व 'जातकर्म' (याज्ञवल्क्य 1/11)—पिता द्वारा बालक के ललाट को छूना और सूंघना, 'नामधेय' (मनु 2/30)—नाम रखना, 'निष्क्रमण' (मनु 2/34)—बच्चे को सूर्य के सामने प्रस्तुत करना, बाहर ले जाना, 'अन्न प्राशन' (याज्ञवल्क्य 1/12)–बच्चे को पक्वान्न खिलाना, 'मुण्डन' (चूड़ाकर्म) (मनु 2/35), विद्यारम्भ (पाटीवर्तना), 'उपनयन' (याज्ञवल्क्य 1/14)—यज्ञोपवीत पहनाना आदि संस्कार होते थे। 'उपनयन' वास्तव में औपचारिक शिक्षा के आरम्भ करने का संस्कार है[1]। इसके द्वारा पिता अपने बालक को ब्रह्मचारी बनाकर गुरु के पास ले जाता था शिक्षा समाप्त होने पर समापवर्तन (मनु 2/108) होता था जो कि आज के 'कान्वोकेशन' के समान है।

बौद्ध शिक्षा की शब्दावली में 'उपनयन' के समतुल्य 'पवज्जा'–प्रव्रज्या (विनयपिटक, पृष्ठ 1।5) है। इसके द्वारा विद्यार्थी का संघ में आरंभिक प्रवेश माना जाता था। इसके बाद पूरी भरती का संस्कार होता था, उसका नाम 'उपसम्पदा' (विनयपिटक, पृष्ठ 1।1) है।

'शिक्षण' की विधियों में शास्त्रार्थ, दृष्टान्त (illustration), स्वाध्याय (self-study), पाठ (memorizing), प्रवचन (lecture) आदि शब्द हैं।

---

1. उपर्युक्त निर्देशों के अतिरिक्त देखिए—Ancient India, History & Culture by *B. G. Gokhale*, page 142.

एफ़० ई० के ने ऋग्वेद से एक प्रसंग का उल्लेख किया है जिसमें 'पाठ' की विधि का उदाहरण मिलता है[1]---

यदेषामन्यो अन्यस्यमवाचं शाक्तस्येव वदंति शिक्षमाणः ।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ।।

—ऋग्वेद 5/7/103

शिक्षक कुछ कहता था और उसकी आवृत्ति शिष्य किया करता था। इसे अनुप्रवचन कहते थे। वेदकालीन और ब्राह्मण शिक्षा में यह प्रचलित पद्धति थी। 'पाठ' के अर्थात् रटने के कई प्रकार थे। प्रतृण-पद-पाठ (प्रत्येक शब्द मुखाग्र करना), निर्भुज–क्रम–पाठ (दो तीन शब्दों का सम्मिलित पाठ, याज्ञवल्क्य, 3/242), उभयन्तरेण-जटापाठ (शब्दों को विभिन्न प्रकार से संयुक्त कर पाठ करना, जैसे अग्नि मीले, मीले अग्नि, अग्नि मीले) और घन-पाठ (कई शब्दों को मिलाकर उन्हें बदल-बदल कर याद करना)। देखिए—हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ 112।

'स्वाध्याय' अपने आप अध्ययन करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जो कुछ एक बार पढ़ लिया जाता था उस पर विचार करते हुए पाठ करना स्वाध्याय कहलाता था। गीता में पठन-पाठन दोनों कार्यों को सम्मिलित करते हुए 'स्वाध्याय' का प्रयोग किया है (स्वाध्याय स्तप आर्जवम्; 16/1)। गुरुकुलों की चर्चा में निश्चित समय पर स्वाध्याय किया जाता था। यह आवृत्ति मूलक ही अधिक होता था।

स्मरण क्रिया को चित्ताकर्षक और मधुर बनाने के लिए उनका पाठ गाकर किया जाता था। इसी दृष्टि से छन्दबद्ध ग्रन्थों की रचना की गई थी। इसके अतिरिक्त आचार्य सूत्रों को प्रवचन और व्याख्यान से स्पष्ट किया करते थे,[2] उनमें टीका के साथ-साथ दृष्टान्त भी देते जाते थे। श्वेतकेतु जब विद्याध्ययन के बाद घर लौटा तो उसके पिता ने उसके ज्ञान की परीक्षा ली और जब वह ईश्वर को अणिमा और आत्मा की तद्रूपता को न समझा सका तो उन्होंने

---

1 Indian Education in Ancient & Later Times by Key page 3.

2 स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् : तैत्तरीय उपनिषद 11 (अहतेकर) तथा याज्ञवल्क—गुरु चेवाप्युपातीत स्वाध्यायार्थ समाहितः 1/26।

'दृष्टान्त' (illustration) पद्धति से यह परम सत्य समझाया। उन्होंने फल और मरते हुए व्यक्ति का उदाहरण देते हुए श्वेतकेतु के सम्मुख विषय वस्तु स्पष्ट रूप से प्रस्तुत की।[1]

इसके अतिरिक्त 'संवाद' और शास्त्रार्थ भी शिक्षण की महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ थीं। शास्त्रार्थ उच्चाध्ययन की पद्धति थी। संवाद और शास्त्रार्थ के आधार 'प्रश्न'[2] हुआ करते थे। इस संवाद में प्रश्निन्, अभिप्रश्निन् (प्रतिप्रश्नकर्त्ता) और प्रश्नविवाक् भाग लेते थे (देखिये—हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ 113)। प्राचीन काल में प्रश्नों के अनेक भेद माने जाते थे। इनका शैक्षणिक महत्त्व होता था। प्रश्नों का उनके प्रकार के आधार पर विभाजन किया गया था। इनके नाम इस प्रकार थे—संप्रश्न, विप्रश्न, परिप्रश्न, अनुप्रश्न, अतिप्रश्न, शिशपाचोद्य-प्रश्न।

संप्रश्न—श्रद्धा तथा विचारपूर्वक किया गया प्रश्न होता था (अष्टाः सूत्र 3/3/111 की टीका)

विप्रश्न—यों ही बिना सोचे-समझे किये गए प्रश्न को विप्रश्न कहा जाता था (अष्टा० 1/4/39)। ऐसे प्रश्नों को शैक्षणिक दृष्टि से अच्छा नहीं माना जाता।

परिप्रश्न—अष्टाध्यायी में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—'कतर कतमो जाति परिप्रश्ने'—अर्थात् जब दो या अधिक बातें बताई जाएँ तो उनमें किस बात पर जोर दिया जा रहा है यह जानने के लिये किया गया प्रश्न 'परिप्रश्न' कहलाता था।

अनुप्रश्न—किन्हीं बातों को विशेष रूप से समझने के लिए किए गए प्रश्न अनुप्रश्न कहलाते थे। ये सभी विद्यार्थियों द्वारा किए गए प्रश्न होते थे। इनका प्रयोग प्रवचन आदि में समस्या की स्थापना करते हुए पूर्व-पक्ष के रूप में भी होता था। ये अभिप्रश्न भी कहलाते थे (तैत्तिरीय ब्राह्मण)

प्रतिप्रश्न—शतपथ ब्राह्मण में प्रतिप्रश्न का भी उल्लेख है पर यह शब्द व्यक्ति

---

1 छान्दोग्योपनिषद् 6/8/6-7.

2 अविज्ञात प्रवचनं प्रश्न इत्यभिधीयते (सभी कोश)

अर्थात् प्रजापति के लिए व्यवहार में आया है और उन्हें शंकाओं का समाधान करने वाला बताया गया है। वैदिक इन्डेक्स (भाग 2 पृष्ठ 31) में लिखा है कि सम्भवतः यह मध्यस्थ के अर्थ में पारिभाषिक शब्द रहा हो।

शिशपाचोद्यप्रश्न—जब ऐसा प्रश्न किया जाए कि रावण ने सीता को शिंशपा के नीचे ही क्यों रखा, अन्य वृक्ष के नीचे क्यों नहीं रखा, अब उसे शिंशपाप्रश्न कहते थे। इसमें किसी कारण से प्रस्तुत कार्य की संगति नहीं बैठती। बालकों को वास्तव में ऐसे प्रश्न करने से रोकना पड़ता है और संप्रश्न करने का अभ्यास दिलाना पड़ता है।

अतिप्रश्न—जो प्रश्न गहन शंका का समाधान करने तथा अतीन्द्रिय विषय के बारे में किया जाए उसे अतिप्रश्न कहते हैं। गार्गी इस तरह के प्रश्नों के लिए प्रसिद्ध थी।[1]

इनके अतिरिक्त शिक्षा में एकान्तवचनीय प्रश्न होते हैं। इनसे भी बालकों का कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि उनमें एक ही पक्ष का उत्तर होता है। इससे भी अधिक अनुपयुक्त प्रश्न 'व्याकरणीय' कहलाते हैं। इनमे एक पक्ष का उत्तर देना सम्भव ही नहीं है (योगभाष्य 4/33)

धम्मपद की अर्थकथा (8/3/4) में कुण्डल केशी स्थविर की कथा में बुद्ध प्रश्न का उल्लेख आया है। जब परिव्राजिका ने पूछा कि यह कैसा प्रश्न है तब सारिपुत्र ने उत्तर दिया यह 'बुद्ध प्रश्न' है। इसका समाधान बुद्ध जैसे ज्ञानी ही कर सकते हैं।

इन नामों की आधुनिक पद्धति के अनेक प्रश्नों से पूरी संगति नहीं बैठती।

अच्छी तरह से अध्ययन कर लेने पर विद्यार्थी में 'विद्यासामर्थ्य' उत्पन्न हो जाती थी। इस शब्द का प्रयोग कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है।[2] कौटिल्य के मतानुसार अध्ययन में गहनता लाने के लिये विद्यार्थी को वृद्ध-संयोग (अनुभवी विद्वानों का साथ) करना आवश्यक है।

---

1 गार्गी के बारे में लिखा गया है—'अतिप्रश्न्यां वै देवतामति पृच्छसि' : बृहदारण्यकउपनिषद् 3/6/1.

2 श्रुताद्धिप्रज्ञोपजायते प्रज्ञया योगो योगादात्मवत्तेति 'विद्या सामर्थ्यम्' : कौटिलीय अर्थशास्त्र 5 : 17.

शिक्षकों के आज कई नाम प्रचलित हैं—अध्यापक, आचार्य, उपाध्याय, पाठक, गुरु, उपदेशक आदि। परन्तु प्राचीन काल में इन सबके अलग-अलग पारिभाषिक अर्थ थे। गुरु तो धर्म-भावना का द्योतक शब्द है— (साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः)। विष्णु स्मृति के अनुसार 'आचार्य' (आ-चर+ण्यत्) वेद पढ़ाने वाला होता था। यह धर्मार्थ शिक्षा देता था। यह बालक को यज्ञोपवीत प्रदान करता था। गायत्री मन्त्र से अनुदिष्ट करता था, फिर वेद पढ़ाता था। दूसरे प्रकार के शिक्षक 'उपाध्याय' कहलाते थे। ये 'वृत्यर्थ' अर्थात् जीविका कमाने के लिए अध्यापन करते थे।[1] इसके अतिरिक्त जो छोटे बालकों को पढ़ाते थे वे 'दारकाचार्य'[2] कहलाते थे। प्राचीन-काल में स्त्रियाँ भी अध्यापन-कार्य करती थीं। उनके लिये स्त्रीलिंगी शब्द का प्रयोग होता था, जैसे—'उपाध्याया'[3]। बौद्ध-शिक्षा में शिक्षक-भिक्षु को 'उपाज्झाय' (उपाध्याय) कहा जाता था।

शिक्षा क्षेत्र की शब्दावली न केवल हमारी क्रमागत संस्कृति की ही झलक प्रस्तुत करती है वरन् उन मान्यताओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डालती है जिनका विकास भारतीय समाज के विकास का अनुवर्ती रहा है।

---

1 मनुस्मृति में इनकी परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—
आचार्य—उपनीयतु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः
संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते। 2/140.
उपाध्याय—एकदेशं तु वेदस्य वेदांगानपि वा पुनः
योध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते। 21/141.
गुरु—निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्येन स विप्रो गुरुरुच्यते। 12/142

2 लिपिशालां उपनीयतेस्म कुमारः। तत्र विश्वामित्रो नाम दारकाचार्यः।
—ललित विस्तर ; अध्याय 10.

3 उपेत्याधीयते अस्थाः सा उपाध्याया—पातंजलि महाभाष्य 3 : 822.

कैलाश चन्द्र भाटिया

★

भारतीय भाषाओं में मूलभूत एकता : ध्वन्यात्मक स्तर पर

भारत बहुभाषाभाषी देश[1] है। संवैधानिक दृष्टि से हिन्दी 26 जनवरी 1965 से केन्द्र की मुख्य राजभाषा के रूप में मानी जाएगी। चौदह प्रादेशिक भाषाएँ जिनमें हिन्दी भी एक है संविधान की अष्टम सूची में स्वीकृत की गई हैं। इन चौदह भाषाओं में से अधिकांश भाषाएँ राज्यों की राज्यभाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी हैं या होने की अधिकारिणी हैं। भाषायी दृष्टि से हम विश्व के राष्ट्रों को तीन भागों में बाँट सकते हैं :

---

1. ग्रियर्सन ने यह जानने की चेष्टा की थी कि भारतवर्ष में कितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, उन्होंने अपने 'भाषा-सर्वेक्षण' की भूमिका में यह स्पष्ट लिखा है ''धीरे-धीरे वे परिपत्र (फ़ार्म) तथा उनमें लिखित नमूने मेरे पास वापस आये जिन्हें देखकर मैं आश्चर्यचकित हो उठा। इनके अनुसार सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत 231 भाषाएँ तथा 774 बोलियाँ मिली हैं। भाग्यवश जाँच के बाद यह भी पता चला कि विभिन्न प्रदेशों में, इनमें से कतिपय नाम दो बार, तीन बार आ गये थे और सम्भवतः ऐसा भी हुआ कि एक ही भाषा के नमूने विभिन्न नामों से आये। इन सब बातों पर विचार करने के पश्चात् मैं अब यह कह सकता हूँ कि भारतीय साम्राज्य के उस क्षेत्र में, जहाँ यह सर्वेक्षण का कार्य सम्पन्न हुआ, **179 भाषाएं तथा 544 बोलियाँ प्रचलित हैं**। इन सबका सर्वेक्षण के विभिन्न भागों में वर्णन किया गया है। सन् 1921 की जनगणना के अनुसार सम्पूर्ण भारतीय साम्राज्य में 188 भाषाएँ थीं। जनगणना में बोलियों की संख्या नहीं दी गई है। ग्रियर्सन—भारत का भाषा-सर्वेक्षण, अनुवादक डा० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ 33-45.

(1) वे राष्ट्र जहाँ राष्ट्रभाषा और राजभाषा एक ही है, साथ ही केन्द्रीय शासन है, जैसे इंगलैण्ड, फ्रान्स आदि ।

(2) वे राष्ट्र जहाँ राष्ट्रभाषाएँ कई हैं और सभी राजभाषा के रूप में स्वीकृत हैं। शासन प्रणाली संघीय अथवा एकतन्त्रीय हो सकती है। जैसे स्विटज़रलैण्ड, कनाडा ।

(3) तीसरे वर्ग में वे राष्ट्र लिये जा सकते हैं जहाँ संघीय शासन प्रणाली है और अनेक भाषाएँ उस राष्ट्र में प्रचलित हों पर उनमें से एक को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया हो, जैसे अमेरिका तथा रूस ।

भारत इस दृष्टि से तीसरे वर्ग में आता है और इसमें भी रूस से अधिक समानता इस दृष्टि से है कि दोनों देशों में राज्यों की भाषाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं पर केन्द्रीय राजभाषा एक है ।

क्या देश में अनेक भाषाओं[1] का प्रयोग देश की एकता में बाधक है, यह एक विचारणीय प्रश्न है । पहली बात तो यह है कि इस विशाल भूभाग में उत्तर से दक्षिण या पश्चिम से पूर्व की यात्रा करें तो एकदम यह नहीं कह सकते कि यहाँ अमुक भाषा-क्षेत्र समाप्त हो गया और यहाँ से अमुक भाषा प्रारम्भ

---

1 यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ग्रियर्सन द्वारा उल्लखित 179 भाषाओं में से 116 तो स्यामी-चीनी तथा तिब्बती-बर्मी कुल की भाषाएँ हैं जो नेफ़ा तथा बर्मा के सीमा-प्रदेश में बोली जाती हैं। द्रविड़ कुल से संबंधित 16 भाषाएँ हैं जिनमें से संविधान में चार ही स्वीकृत हैं। आर्य भाषाएँ 38 हैं जिनमें से राजस्थानी, भीली, प० पहाड़ी, मध्य पहाड़ी, पूर्वी हिन्दी भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि विशाल हिन्दी-प्रदेश में ही सम्मिलित हो जाती हैं। इस प्रकार संविधान में केवल 14 भाषाएं ही स्वीकृत की गई हैं—असमिया, बँगला, उड़िया, तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड, मराठी, गुजराती, पंजाबी, कशमीरी, उर्दू, संस्कृत तथा हिन्दी ।
भाषाओं तथा बोलियों की इतनी बड़ी संख्या केवल चौंकाने वाली है। कुछ भाषाओं तथा बोलियों के बोलने वालों की संख्या द्रष्टव्य है : अंगला 7, अंद्रोक 2, अंमानी 1, अओगा 4, अका 64, अगरिया 4, अगिदेई 2, अग्रवाली 1, अदेरिनी 24, अपुंगनंग 15, असनरी 1, अहीरी 15, आदिवासी 1, अधियानी 2

हो गई[1] और अब नई भाषा समझ में नहीं आ रही। भाषाओं की आपसी बोधगम्यता ही इस बात का प्रमाण है कि दो भिन्न भाषाएँ परस्पर बहुत अधिक समीप हैं अथवा भाषाओं का एक दूसरे पर इतना अधिक प्रभाव है कि उनके बीच में विभाजन-रेखा खींचना प्रायः कठिन ही नहीं असम्भव है। भाषाओं की अनेकता बाधक है यह विचार ऊपरी दृष्टि से ही सत्य प्रतीत होता है। वास्तव में इस अनेकता के मूल में एकता के लक्षण विद्यमान हैं।

भारतवर्ष में राष्ट्रीय एकता का श्रेय इस युग में बहुत कुछ अंग्रेज़ों को दिया जाता रहा है। अगर यह वास्तव में सत्य है तो स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि क्या अंग्रेज़ी से पूर्व अर्थात् १००-१५० वर्ष पूर्व देश में एकता नहीं थी, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को नहीं समझ पाता था। पर धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्थलों पर देश के विभिन्न मार्गों से व्यक्ति पर्याप्त संख्या में आवागमन के कष्टकर साधन होते हुए भी जाते थे और आज भी इन स्थलों पर जाकर इस भ्रान्ति का निराकरण स्वयमेव हो जाता है। भारत में उत्तर में बद्रीनाथ से लेकर सुदूर दक्षिण में रामेश्वरम तथा पूर्व में जगन्नथपुरी से पश्चिम में द्वारका पुरी तक जाने की प्रथा अनन्त काल से चली आ रही है। इसके पीछे चाहे धार्मिक भावना हो, पर मूल में देशाटन के माध्यम से देश दर्शन का भाव ही प्रधान है जिसके फलस्वरूप इन स्थानों पर 'बहुभाषिता' प्राप्त होती है और यात्रियों को भाषा की विभिन्नता के कारण कष्ट नहीं उठाना पड़ता। भारतवासियों के इष्टदेव राम और कृष्ण की जन्मस्थली अयोध्या तथा मथुरा दोनों ही हिन्दी प्रदेश में स्थित हैं। देश के कोने-कोने से प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति इन नगरों में आते हैं पर भाषा की विभिन्नता एकता में बाधक सिद्ध नहीं होती वरन् इसके विपरीत भाषाई आदान-प्रदान से अलौकिक सुख प्राप्त होता है। यह सर्वविदित है कि ये धार्मिक स्थल बदरीनाथ, केदारनाथ पहाड़ी-हिन्दी, द्वारका गुजराती, रामेश्वर तमिल तथा पुरी उड़िया भाषा-भाषी प्रदेश में स्थित हैं। ये भाषाएँ सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं पर भिन्नता के पीछे एक सूत्रता व्याप्त रही है। वह है प्राचीन काल में संस्कृत और परम्परागत मध्यदेशीय भाषाएँ पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आज उसी कड़ी में हिन्दी

---

[1] यूरोप में विभिन्न राज्यों की यात्रा करते समय व्यक्तियों को ऐसा अनुभव होता है। छोटी सी इंगलिश चैनल पार कर फ्रांस में नितान्त भिन्न भाषा का अनुभव होता है। वेल्स की भाषा ही इंगलैण्ड से पर्याप्त भिन्न है।

विद्यमान है। अब तक भारत में भाषाओं सम्बन्धी जो कार्य हुआ है उसमें एकता के स्थान पर विभेदता,अनेकता की ही छानबीन होती रही है। अब समय आ गया है कि हम इन भाषाओं में मूल में व्याप्त एकता का भी दर्शन करें। इस एकता के अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें प्रधान कारण निम्नलिखित हैं :

(1) प्राचीन काल से संस्कृत का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव। आर्य भाषाएँ तो इससे विकसित हुई हैं पर द्रविड़ भाषाएँ भी संस्कृत से कम प्रभावित नहीं हुई। संस्कृत की अन्तर्धारा ही समस्त भाषाओं में व्याप्त होने के कारण वाह्य रूप से पृथक्-पृथक् भाषाओं में एकता के तत्त्व समाहित हैं।

(2) प्राचीन काल से ही आर्य, मुंडा तथा द्रविड़ संस्कृतियों तथा उनसे संवद्ध भाषाओं का एक दूसरे पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा जिससे ध्वन्यात्मक तथा शाब्दिक स्तर पर काफी आदान-प्रदान बढ़ा।

(3) मध्यकाल में मुस्लिम संस्कृति तथा राजभाषा अरबी-फ़ारसी का भारत की सभी भाषाओं पर समान प्रभाव पड़ा।

(4) आधुनिक काल में यूरोपीय जातियों विशेषकर अँग्रेज़ी राज में अँग्रेज़ी भाषा और साहित्य का आधुनिक भारतीय भाषाओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

(5) धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक कारणों के अतिरिक्त प्रेस का विकास, साक्षरता का प्रसार, शिक्षा के प्रति अभिरुचि के फलस्वरूप भाषाओं में समान शब्दावली, मुहावरों तथा कहावतों की खपत बढ़ रही है।

समय के साथ और राज्यों के तीव्र विकास के साथ राज्य की भाषा का भी विकास तेजी से हो रहा है जिसके फलस्वरूप नवीन तत्त्व इतने समाहित होते जा रहे हैं कि पुरानी विभिन्नताएँ क्षीण होती जा रही हैं। मुख्यतः संस्कृत के व्यापक प्रभाव के कारण और गौणतः अरबी-फारसी तथा अँग्रेजी के प्रभाव के कारण भारतीय भाषाओं मे समान तत्व पर्याप्त मात्रा में बढ़ते जा रहे हैं।

मध्यदेशीय भाषा हिन्दी (उर्दू शैली को समाहित कर) इस समय समस्त भारतवर्ष का 49 प्रतिशत क्षेत्रफल घेरे हुए है जिसके समझने-बोलने वाले भारत की समस्त जनसंख्या की 45 प्रतिशत हैं। फिर भाषाओं का यह आपसी लेन-देन प्राचीन काल से बढ़ता जा रहा है। साथ ही जातियों, विवाह-संबंधों, देश भर में फैले हुए अंसख्य तीर्थ स्थानों, देवालयों, निरन्तर भ्रमणशील साधु-संन्यासियों और उनके उपदेशों, धार्मिक पीठों के आचार्यों (शंकर, वल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क

आदि) के आंदोलनों तथा स्वतन्त्रता आंदोलन के सामाजिक तथा राजनीतिक नेताओं के प्रवचनों व भाषणों के फलस्वरूप हमारे देश में कोई भी धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक विचारधारा किसी सीमा में आबद्ध न रही वरन् आसेतु हिमाचल तक चारों ओर फैली, जिसके कारण देश की अनेक भाषाओं और बोलियों में अद्भुत साम्य मिलता है।

सर्वप्रथम समानता के ये तत्त्व यहाँ ध्वन्यात्मक स्तर पर देखने हैं।

भाषाशास्त्रियों ने इस बात का पर्याप्त अध्ययन कर पता लगा लिया है कि प्रारम्भ में आर्य भाषाओं में मूर्द्धन्य ध्वानियाँ—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ऋ, ष् आदि नहीं थीं। द्रविड़ तथा मुंडा भाषाओं के प्रभाव के कारण ये ध्वनियाँ संस्कृत में भी आ गईं। इसी प्रकार आदिम द्रविड़ भाषा में महाप्राण वर्ण ख्, घ्, थ्, ध्, ठ्, ढ्, फ्, भ्, आदि नहीं थे पर द्रविड़ परिवार की तीन प्रधान भाषाओं—तेलुगु, कन्नड तथा मलयालम में तथा उर्दू में ये महाप्राण ध्वनियाँ समाहित हो गई हैं। केवल तमिल में इन ध्वनियों का अभाव है। यही कारण है कि तमिल अपने प्राचीनतम रूप में आज भी विद्यमान है और अपने पूर्व को सुरक्षित रखने के कारण ही अन्य द्रविड़ भाषा-भाषियों की अपेक्षा उन्हें राजभाषा हिन्दी सीखने में कुछ अधिक कठिनाई का अनुभव हो रहा है।

स्वर

भारत की समस्त आधुनिक भाषाओं में स्वरों की संख्या कुछ थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ समान है। मोटे तौर पर भारतीय भाषाओं की स्वरतालिका इस प्रकार है :

ह्रस्व:	अ	इ	उ	(ऍ)	(ऑ)
दीर्घ :	आ	ई	ऊ	(ए)	(ओ)
संध्यक्षर :			ऐ [अइ]		
			औ [अउ]		

'ऋ'[1] की समस्या :

'ऋ', 'ॠ', 'लृ', 'ॡ', आदि वर्ण संस्कृत के कारण भारतीय भाषाओं में सम्मिलित हो गये हैं। 'ॡ' का तो संस्कृत में भी कोई उदाहरण नहीं मिलता

1 ऋक् प्रातिशाख्य में इसका उच्चारण वर्त्स्य स्थल कहा गया है साथ ही मूर्द्धन्य स्वर भी माना गया है। इसके उच्चारण के सम्बन्ध में शिक्षा ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में भी पर्याप्त मतभेद मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि

केवल पैटर्न को ठीक रखने के लिए ही यह संभवतः व्याकरण ग्रन्थों में जोड़ दिया गया। 'ॠ' तथा 'ॡ' से युक्त शब्द भी व्याकरण-ग्रन्थों तक ही सीमित हैं, इन दोनों वर्णों की पृथक् व्यवस्था भारत की अनेक भाषाओं—गुजराती, बंगला, उड़िया, तेलुगु, मलयालम, कन्नड भाषाओं में है। पंजाबी (गुरुमुखी), तमिल, उर्दू, सिन्धी, कश्मीरी आदि भाषाओं में तो 'ऋ' वर्ण का भी कोई स्थान नहीं है। संस्कृत से प्राप्त कुछ शब्दों में 'ऋ' वर्तनी मात्र में जैसे ऋषि, कृषि आदि शब्दों में चली आ रही है। जहाँ तक उच्चारण का सम्बन्ध है, 'ऋ' का उच्चारण बहुत काल पूर्व पालि काल में ही समाप्त हो गया था। हिन्दी में इसका उच्चारण आज 'रि' की तरह ही होता है। अतएव इसको स्वरों में स्थान नहीं दिया गया है। वैसे तद्भव शब्दों में 'अ' 'आ' 'उ' 'ऊ' 'इ' 'ई'[2] सभी रूपों में यह ध्वनि विकसित हुई है। अन्य भारतीय भाषाओं में 'ऋ' का विकास 'र' 'रि' 'रु' तीनों ही रूपों में हुआ है। तेलुगु और कन्नड़ में यह संघर्षी 'र' की भाँति और गुजराती, उड़िया में 'रु' की भाँति तथा मराठी में अधिक मूर्द्धन्यता के साथ उच्चरित होती है।

ह्रस्व ऍ तथा ऑ :

ये दोनों ह्रस्व ध्वनियाँ द्रविड़ भाषाओं-तमिल तेलुग मलयालम कन्नड की विशेष ध्वनियाँ हैं। हिन्दी के परिनिष्ठित रूप में इनका अभाव है पर हिन्दी प्रदेश की प्रधान उपभाषाओं—ब्रज तथा अवधी में यह दोनों ध्वनियाँ विद्यमान हैं। अँग्रेजी, फारसी में भी ये ध्वनियाँ हैं जिनको हिन्दी भाषा-भाषी दीर्घ स्वर के रूप में ही उच्चरित करता है। अब समय आ गया है कि इन ह्रस्व ध्वनियों के लिए हिन्दी में लिपि चिह्न स्थिर कर दिये जायँ और आवश्यकतानुसार शुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान दिया जाय।

अं, अः वस्तुतः ये दोनों ध्वनियां संस्कृत वर्णमाला के प्रभाव के कारण भारत की सभी भाषाओं की वर्णमालाओं तथा लिपियों में अपना स्थान बनाये हुए हैं।

अँग्रेज़ी 'ल' की तरह यह भी कोई ऐसी ध्वनि थी जिसका आक्षरिक महत्त्व था और इसी कारण इसको स्वरों में सम्मिलित कर लिया गया और साथ ही अन्य तीन की भी वृद्धि कर ली गई।

2. तद्भव शब्दों में अनेक उदाहरण लिये जा सकते हैं :

अ—गृह	घर	इ—गृद्ध	गिद्ध	उ—स्मृति	सुरत
आ—कृष्ण	कान्ह	ई—शृंग	सींग	ऊ—वृद्ध	बूढ़ा

विशेष ध्वनियाँ :

(१) 'ओइ' बंगला तथा असमिया में यह एक विशेष स्वर है। बंगला में प्रयुक्त । अ । भी वृत्ताकार होठों से बोला जाता है।

(२) हिन्दी में 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण शुद्ध मूल स्वर के रूप में विकसित हुआ है, परन्तु हिन्दी की पूर्वी उपभाषाओं में ये संयुक्त स्वर ही हैं। अतएव इन ध्वनियों का शुद्ध उच्चारण सीखने के लिए तो पश्चिमी हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र ही उपयुक्त है जिसके केन्द्र आगरा, मथुरा, देहली, मेरठ हैं।

व्यंजन ध्वनियाँ

तमिल को छोड़कर शेष भारतीय भाषाओं की व्यंजन ध्वनियों की तालिका इस प्रकार है। विशिष्ट ध्वनियों को कोष्ठकों में कर दिया गया है।

स्पर्श :	क्	ख्	ग्	घ्	(क़्)	
	ट्	ठ्	ड्	ढ्		
	त्	थ्	द्	ध्		
	प्	फ्	ब्	भ्		
स्पर्श-संघर्षी :	च्	छ्	ज्	झ्		
अनुनासिक :	ङ्	(न्)	ण्	न्	म्	
संघर्षी :	श्	ष्	स्	ह्	(ख़्) (ग़्), (ज़्), (फ़्) (ऱ्) (ष़्)	
लुंठित :	र्					
पार्श्विक :	ल्	(ऴ्)				
अर्द्धस्वर :	य्	व्				

नोट : तमिल, मलयालम में वर्त्स्य ट़्, ध्वनि भी है, अन्य भाषाओं में न होने के कारण इस चार्ट में स्थान नहीं दिया गया है।

इसी प्रकार सिंधी में अन्तर्मुखी ध्वनियाँ भी हैं पर अन्य भारतीय भाषाओं में इन ध्वनियों का कोई स्थान न होने के कारण इसमें समाहित नहीं किया गया है।

विशेष टिप्पणियाँ :

ध्वनि सम्बन्धी :

स्पर्श—। क़्. । अलिजिह्वीय स्पर्श ध्वनि है जिसका उर्दू तथा उर्दू से प्रभावित भाषाएँ हिन्दी, सिन्धी, कश्मीरी में विशेष स्थान है।

पार्श्विक-- । ल्. । यह ध्वनि वैदिक तथा प्राचीन द्रविड़ ध्वनि है जिसके कारण भारत की गुजराती, उड़िया, पंजाबी, तेलुगु, कन्नड, मलयालम, तमिल आदि भाषाओं में विशेष स्थान है जबकि हिन्दी, असमिया, बँगला, उर्दू, कश्मीरी, सिंधी आदि भाषाओं में इसका नितान्त अभाव है। वैसे हिन्दी में इसका कोई स्थान नहीं, पर अन्य भारतीय भाषाओं के शुद्ध लिप्यन्तरण की दृष्टि से भारत सरकार ने नागरी लिपि के संशोधित रूप में इसको बढ़ा दिया है।

नासिक्य— । न् । तमिल तथा मलयालम में दन्त्य तथा वर्त्स्य दो नासिक्य ध्वनियाँ हैं जबकि हिन्दी में केवल एक है जिसको परम्परागत वैयाकरण दन्त्य मानते हैं। पर आजकल उसका वर्त्स्य उच्चारण ही है।

। ङ, ञ् ,ण् । उर्दू, कश्मीरी भाषाओं में ये नहीं हैं। 'ञ' का उच्चारण तो हिन्दी में भी नष्टप्राय ही है।

संघर्षी—। ख़, ग़, । ये उर्दू, के प्रभाव के कारण हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी, कश्मीरी आदि भाषाओं में बढ़ गई हैं।

। फ़्. ज़् । ये दोनों ध्वनियाँ उर्दू तथा अंग्रेजी के प्रभाव के कारण भारत की लगभग सभी भाषाओं में उच्चरित होने लगी हैं।

। ऱ् । मलयालम तथा तमिल, में इसका विशेष स्थान है। तेलुगु में भी एक विशेष 'र' है।

। ष्. । मलयालम तथा तमिल की यह विशिष्ट ध्वनि है। आर्य भाषा-भाषियों के लिए इस ध्वनि का उच्चारण कष्टकर है।

। श्, ष्, स् । इन तीनों ध्वनियों में से किसी भाषा में कोई दो हैं और किसी में अन्य कोई दो। । ष् । का उच्चारण तो दक्षिण की भाषाओं को छोड़कर प्रायः नष्ट ही हो गया है।

स्पर्शसंघर्षी--।च़् तथा ज़्। ये दन्त-वर्त्स्य ध्वनियाँ केवल मराठी भाषा में हैं।

उत्क्षिप्त--।ड़् तथा ढ़्। ये दोनों ध्वनियाँ आधुनिक आर्यभाषाओं--हिन्दी, उर्दू, सिंधी, पंजाबी, उड़िया आदि में विकसित हो गयी हैं।

संयुक्त ध्वनियाँ :

। क्ष् । वस्तुतः यह । क्+ष् । का ही संयुक्त रूप है जिसका हिन्दी, गुजराती, तेलुगु आदि में 'क्ष' उच्चारण होता है जबकि बंगला में 'ख्' । हिन्दी में भी इसके शुद्ध उच्चारण की अपेक्षा 'छ' के रूप में उच्चारण ही अधिक मिलता है । प्राकृतों में इसके दो रूप विकसित हुए 'च्छ' तथा 'क्ख' जिनसे क्रमशः आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'छ' तथा 'ख' रह गया है । नागरी के संशोधित रूप में इस वर्ण को सुरक्षित रखा गया है ।

। ज्ञ् । वस्तुतः यह । ज्+ञ् । का ही संयुक्त रूप है जिसका हिन्दी में उच्चारण 'ग्य', तेलुगु, कन्नड में 'ग्यं' और गुजराती में 'गन्यं' तथा मराठी में 'दन्यं' के रूप में होता है । पंजाबी में इसका प्रयोग नहीं होता । यही कारण है कि इस ध्वनि को भी नागरी के संशोधित रूप में सुरक्षित रखा गया है ।

। त्र् । यह । त्+र् । का संयुक्त रूप है जिसका आज शुद्ध उच्चारण प्रायः सभी भाषाओं में प्राप्त होता है पर इसका संशोधित रूप 'त्र' स्वीकार किया गया है ।

भाषागत विशेषताएँ :

द्रविड़ परिवार :

तेलुगु : मूर्द्धन्य पार्श्विक । ल्. । तथा जिह्वोत्कंपी ।र। दो विशिष्ट ध्वनियाँ हैं ।

कन्नड : मूर्द्धन्य पार्श्विक ध्वनि । ल्. । विशिष्ट ध्वनि है । केवल दन्त्य 'स' ही है ।

मलयालम : मूर्द्धन्य पार्श्विक । ल ।, मूर्द्धन्य संघर्षी । ष्. ।, वर्त्स्य संघर्षी । ऱ् । । वर्त्स्य स्पर्श । ट् । तथा नासिक्य ध्वनि । न्. । विशिष्ट ध्वनियाँ हैं ।

तमिल : भारतीय भाषाओं में तमिल. ही एक ऐसी भाषा है जो पिछले २५०० वर्ष से अपने अविकल रूप में विद्यमान है

और जिस पर दूसरी भाषाओं का अल्पतम प्रभाव पड़ा है। आर्य परिवार की विभिन्न भाषाओं की महाप्राण ध्वनियाँ भी संस्कृत के प्रभाव के कारण द्रविड़ परिवार की तेलुगु, कन्नड तथा मलयालम में प्रविष्ट हो चुकी हैं पर मात्र तमिल ही ऐसी भाषा है जिसमें महाप्राण ध्वनियाँ फ्, भ्, थ्, ध्, छ्, झ्, ख्, घ्, ठ्, ढ् सम्मिलित नहीं। अघोष स्पर्श व्यंजनों का सघोष उच्चारण पूरक बंटन में होने के कारण उसके लिए पृथक् से वर्ण नहीं हैं, जैसे ब्, द्, ज्, ड्, ग्। तमिल में संघर्षी श्, ष्, स्, ह्, उत्क्षिप्त ड़, ढ़ ध्वनियाँ नहीं हैं। तमिल में ह्रस्व स्वर एँ तथा ओं के अतिरिक्त तीन विशिष्ट व्यंजन ध्वनियाँ हैं: वर्त्स्य संघर्षी । ऱ् ।, मूर्द्धन्य पार्श्विक । ळ् । तथा मूर्द्धन्य संघर्षी । ष् ।. । र तथा ल। का उच्चारण भी कठिन है। मध्य स्थिति में प्राप्त एक और विशिष्ट व्यंजन ।अख़। है ।। क। ध्वनिग्राम से ही कई ध्वनियों का काम चला लिया जाता है। शब्द के प्रारम्भ में इसकी ध्वनि । क। है, मध्य में दो स्वरों के मध्य यह कंठ्य संघर्षी, नासिक्य के परे सघोष स्पर्श तथा द्वित्व में पुनः अघोष स्पर्श । क। के रूप में रहता है।

आर्य भाषाएँ :

उड़िया : मूर्द्धन्य पार्श्विक । ळ् । विशेष ध्वनि है। एक विशेष प्रकार का । य। भी है।

बंगला : । व। का उच्चारण । ब्। रूप में ही होता है। संघर्षी ध्वनियों में 'स्' के स्थान पर 'श्' का ही बाहुल्य है।

असमिया : 'य' का उच्चारण । ज्। तथा 'स' का । ह्। रूप में होता है।

गुजराती : 'ळ्' वर्ण विशेष है।

मराठी : दो विशिष्ट ध्वनियां हैं। च़। तथा। ज़।

उर्दू : क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़्, ध्वनियाँ अरबी-फ़ारसी के अत्यधिक प्रभाव के कारण उर्दू में विशेष स्थान रखती हैं। उत्क्षिप्त ध्वनियाँ ।ड़्. तथा ढ़्। भी हिन्दी की भाँति उर्दू में विशेष स्थान रखती हैं।

सिन्धी में ग, ज, द, ब विशिष्ट ध्वनियाँ हैं।

हमारी भाषाओं की यह समानता शताब्दियों के परस्पर के आदान-प्रदान, सम्पर्क और भारतीय जीवन की सरलता का परिणाम है। आवागमन के बढ़ते हुए साधन तथा रेडियो, सिनेमा आदि के प्रचार के कारण भाषाओं में उच्चारण की समानता भविष्य में और बढ़ेगी। भारतीय संस्कृति की उपमा कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस प्रकार दी है: 'आधुनिक भारत की संस्कृति एक ऐसे शतदल कमल के समान उपमित की जा सकती है जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तीय भाषा और उसकी साहित्य-संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा की हानि होगी।' क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में रंग-बिरंगे फूलों को ये समान तत्त्व एकसूत्रता में बाँधे हुए हैं जिनसे निस्सन्देह भविष्य में राजभाषा के विकास में सहायता मिलेगी और देश भी एकसूत्र में सहज ही बँधता जायेगा।

रामगोपाल सोनी

★

महाराष्ट्र के स्थानवाची उपनामों का विश्लेषण

महाराष्ट्र प्रदेश के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े के अनुसार 'महाराष्ट्र' का जन्म 'महाराष्ट्रिक' से हुआ है। बौद्ध धर्म की क्रान्ति के समय मगध देश के निवासी महाराष्ट्रिक, 'दक्षिणापथ' वा 'दण्डकारण्य' में आकर बस गये और उन्हीं के नाम पर इस प्रदेश का नाम 'महाराष्ट्र' पड़ा। डॉ व्यंकटेश केतकर 'महाराष्ट्र' का अर्थ 'महारांचाराष्ट्र' (महारों का राष्ट्र) से लगाते हैं। कुछ विद्वान 'मल्लराष्ट्र' अथवा बड़े राष्ट्र से 'महाराष्ट्र' का अर्थ लगाते हैं परन्तु महाराष्ट्र के क्षेत्र व सीमा के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। प्रश्न उठता है क्या 'प्राचीन महाराष्ट्र' आधुनिक महाराष्ट्र प्रदेश तक ही सीमित था या इससे बड़े क्षेत्र में फैला था ?

महाराष्ट्र के पूर्व विदर्भ नाम कई स्थानों में मिलता है। महाभारत के नलोपाख्यान में राजा नल दमयन्ती को एक स्थान से फूटने वाले पाँच मार्गों का वर्णन कर रहे हैं। इसी प्रसंग में वे 'विदर्भ' का उल्लेख करते हैं।

> "एष पंथा विदर्भाणामयं गच्छति कोसलान।
> अतः परंच देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः ॥"

अन्य स्थानों में लोपामुद्रा (अगस्त्य ऋषि की पत्नी), इन्दुमती (राजा अज की पत्नी), दमयंती (राजा नल की पत्नी), रुक्मिणी (श्री कृष्ण की पत्नी) आदि विदर्भ राजकुमारियों के नाम मिलते हैं। इस प्रकार विदर्भ का अस्तित्व बहुत प्राचीन है और वह एक शक्तिशाली राज्य माना जाता रहा है। महाराष्ट्र राज्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। उस समय महाराष्ट्र विदर्भ में ही समाहित था। डॉ० य० खु० देशपांडे के अनुसार महाराष्ट्र विदर्भ का विस्तृत रूप है।

प्राचीन महाराष्ट्र की भौगोलिक व राजनैतिक सीमायें भी निश्चित नहीं हैं। प्राचीन समय में तीन महाराष्ट्र मिलते हैं—(१) कोंकण (२) विदर्भ (३) खान देश।

डॉ० य० खु० देशपांडे 'श्री ऋद्धपुर महत्व' के आधार पर महाराष्ट्र की सीमा इस प्रकार मानते हैं—

"विंध्यापासून दक्षिण दिशेसी
कृष्णा नदी पासून उत्तरेशीं।
झाड़ी मंडला पासून पश्चिमेसीं
कोंकण पर्यन्त ॥ ६८ ॥"[1]

महाराष्ट्र के क्षेत्र-विस्तार की प्रथम जानकारी हमें 'विजापुर' जिले के 'ऐहोल' नामक स्थान के शिलालेख से मिलती है जो जैन कवि रविकीर्ति द्वारा शाके सं० ६३४ में लिखा गया है। उसने लिखा है—

"द्वितीय पुलकेशी नव्वे हजार गाँवों का अधिपति हुआ था।"

ए० पी० करमरकर ने भी रवि कीर्ति के शब्दों को दुहराया है। वे लिखते हैं—

"During the time of Pulikesi II, 'it (area of Maharashtra) had increased to the extent of 99,000 villages."[2]

सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री युआनच्वांग ने अपने भ्रमण में महाराष्ट्र का विस्तार ७५० से ८०० मी० वर्णन किया है तथा राजधानी को ३ या ४ मी० तक फैली बतलाया है।

इसी प्रकार अन्य राजाओं के शासन में महाराष्ट्र के विस्तृत क्षेत्र का ज्ञान तो अवश्य होता है पर निश्चित क्षेत्र का नहीं। कुछ विद्वान 'महाराष्ट्र' का अर्थ बड़े राष्ट्र या 'मल्ल राष्ट्र' से भी लगाते हैं परन्तु यह अतिशयोक्ति मात्र है। राजनैतिक दृष्टि से महाराष्ट्र प्रदेश सदैव परिवर्तनशील रहा है। यहाँ अनेक राजनैतिक तथा सामाजिक क्रांतियाँ हुई हैं। इसलिये महाराष्ट्र की सीमा निर्धारित करना अत्यंत कठिन है।

---

1. महानुभावीय मराठी वाङ्मय पृ० ९०, (डॉ य० खु० देशपाँडे)
2. Cultural History of Karnataka, P. 22, *A. P. Karmarkar.*

भौगोलिक दृष्टि से महाराष्ट्र चार भागों में बँटा है—(१) कोंकण (२) गोदावरी, कृष्णा की घाटियाँ (३) तापी व पूर्णा की घाटियाँ (४) वर्धा, वैन-गंगा की घाटियाँ। इन्हीं भागों में महाराष्ट्रीय सभ्यता के भिन्न-भिन्न स्वरूप हम देख सकते हैं। वर्तमान महाराष्ट्र प्रदेश १६·४° से २२·१° उत्तरी अक्षांश तथा ७२·६° से ८०·६° देशान्तर के मध्य स्थित है। इसके पश्चिम में अरब सागर, उत्तर पश्चिम में गुजरात, उत्तर में मध्यप्रदेश, दक्षिण पूर्व में आंध्र और दक्षिण में मैसूर तथा गोवा है। इसकी वर्तमान जनसंख्या ३,९५,५३,७१८ है जिसमें २,०४,२८,८८२ पुरुष तथा १,९१,२४,८३६ स्त्रियाँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाराष्ट्र की राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पर-म्परा बहुत प्राचीन है। महाराष्ट्र में अनेक जातियों का आगमन हुआ जिनमें महाराष्ट्रिकों (महारट्ठ>मरहट्ठ>मराठा) का आगमन विशेष महत्त्व रखता है। महाराष्ट्रिकों का सम्पर्क यहाँ के जन-जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाया। महाराष्ट्रिकों की संस्कृति, सभ्यता एवं भाषा ने यहाँ के जीवन को आक्रांत कर लिया और एक नई संस्कृति को जन्म दिया। इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों में नाम या उपनाम परिवर्तन की घटना बहुत ही मनोरंजक तथा महत्वपूर्ण कही जा सकती है। महाराष्ट्रिकों के प्रभाव से यहाँ के निवासी राष्ट्रिकों ने अपने उपनामों का महाराष्ट्रीकरण कर लिया जैसे, मौर्य से मोरे, शिलाहार से शेलारे, चालुक्य से चालके, सात्यकि से सतके आदि। इस संक्रमण काल में महाराष्ट्र में स्थानवाची उपनामों का प्रचलन बड़ी तेज़ी से बढ़ा। शीघ्रता के साथ स्थानान्तरण तथा निवास परिवर्तन का कार्य चल रहा था। नए स्थानों में भी जाकर लोग अपने पुराने निवास स्थान, गाँवों को नहीं भुला सके और संचित पूँजी की तरह अपने साथ लेते गये। हर व्यक्ति को अपनी मातृभूमि, अपने गाँव व अपने पूर्वजों के निवास स्थान से प्रेम होता है। उसके प्रति हृदय में एक श्रद्धा या अनुराग का भाव होता है। यही ममता या अनुराग की भावना आगे चलकर स्थानवाची उपनामों की जननी बनी। जैसे चांदा से आने वाला व्यक्ति 'चांदेकर' तथा पूना से आने वाला 'पुणेकर' हो गया।

किसी व्यक्ति का स्पष्ट परिचय देने के लिये भी इस प्रकार के नामों की आवश्यकता पड़ती है। समाज में एक नाम के कई व्यक्ति होते हैं, उनका स्पष्ट परिचय देने के लिये हम उनके नाम के साथ गाँव का नाम जोड़ देते हैं जैसे व्यंकटेश अमरावती वाला आदि। कालान्तर में यही परिचय सूचक

शब्द उपनाम बन जाते हैं। कोल्हापुरे, चांदेकर, सातारकर, नागपुरे, पुणेंकर, सावरकर, चिपलूणकर, पैठणकर, वैरागंडे आदि उपनाम इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इन स्थानवाची उपनामों में विविध प्रकार के उपनाम पाये जाते हैं। इन उपनामों तथा स्थानों के नामों में विशिष्ट परिवर्तन के साथ स्वर और व्यंजन का लोप हुआ है। कहीं-कहीं पर 'कर' प्रत्यय का आगम हुआ है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से हम इन उपनामों को इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

(१) **पुरांत उपनाम**—पुरांत उपनाम वे उपनाम हैं जिनके अंत में 'पुर' रहता है और उनमें 'ए' स्वर का आगम हुआ है जैसे—

नागपूर	>	नागपूरे
कोल्हापूर	>	कोल्हापूरे
केलापूर	>	केलापूरे
हीरापूर	>	हीरापूरे

(२) **'कर' प्रत्यय वाले पुरांत उपनाम**—कुछ पुरांत उपनाम जिनमें 'कर' प्रत्यय का आगम हुआ है, जैसे—

इन्दापूर	>	इन्दापूरकर
फैजपूर	>	फैजपूरकर
कोल्हापूर	>	कोल्हापूरकर
नागपूर	>	नागपूरकर

(३) **पूर्ण शब्द में 'कर' वाले उपनाम**– कुछ स्थानवाची उपनाम अपने पूर्ण रूप में 'कर' प्रत्यय का प्रयोग करके आये हैं :—

पाटस	>	पाटसकर
मुलगांव	>	मुलगाँवकर
सावली	>	सावलीकर
चिमूर	>	चिमूरकर

(४) **आकारांत स्थानवाची उपनाम**—इन उपनामों में 'अ' का लोप होकर 'ए' स्वर का आगम होता है, जैसे—

चांदा	>	चांदे
सातारा	>	सातारे
भंडारा	>	भंडारे

इस प्रकार हम देखते हैं कि दीर्घ स्वरांत शब्दों में उन स्वरों का प्रायः हमेशा लोप होता है और 'ए' स्वर का आगम। इसी प्रकार मूल शब्दों में 'कर' प्रत्यय का आगम विशेष रूप से हुआ है। कहीं-कहीं पर व्यंजनांत परिवर्तन भी मिलते हैं, जैसे—

वैरागढ़ > वैरागड > वैरागडे
खोरगढ़ > खोरगड > खोरगडे

इन स्थानवाची उपनामों के द्वारा हमें महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होता है। इन उपनामों में यहाँ के गाँव व नगर चित्रित हैं। राजनैतिक क्रान्तियों या प्रकृति के कोप आदि से इन गाँवों के नाम बदल जायँ या इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय पर ये उपनाम नहीं खत्म हो सकते और ये गाँव इन उपनामों में अमर हैं। इन उपनामों में महाराष्ट्र का प्राचीन इतिहास तथा यहाँ की संस्कृति की असूल्य निधि बिखरी तथा छिपी है।

इन उपनामों के अतिरिक्त महाराष्ट्र के बाहर के अन्य प्रान्तों के स्थान-वाची उपनाम भी मिलते हैं, जैसे—मथुरे, बनारसे, इंदूरकर, देहलीकर तथा अजमिरे आदि। ये उपनाम इस बात के साक्षी हैं कि महाराष्ट्र का सम्बन्ध अन्य प्रान्तों से भी रहा है और सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्राचीन काल से होता रहा है। इन उपनामों में मनोरंजक घटनाएं, अद्भुत कथाएँ, रोचक आख्यान तथा पौराणिक इतिहास भरा पड़ा है।

महाराष्ट्र में ही नहीं, अन्य प्रान्तों में भी स्थानवाची नाम या उपनाम रखने की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। हिन्दी प्रदेश में माथुर (मथुरा), अग्रवाल (अग्रोहा), मालवीय (मालवा), सरयूपारी; कनौजिया सिसौदिया (सिसौदिया ग्राम), भाटी (भटनेर), भदौरिया (भदावर राज्य) आदि स्थानवाची उपनाम हैं। यह प्रवृत्ति सार्वभौमिक है। भारतीय, जर्मन, जापानी, फ्रेंच आदि नाम देशों के प्रतीक हैं। स्थानवाची उपनामों से हमारी त्रिजिज्ञासा (नाम, धाम, काम) की संतुष्टि होती है। इन स्थानवाची उप-नामों से हमारे मूल निवास स्थानों पर प्रकाश पड़ता है तथा ये उपनाम हमारे मूल निवास स्थानों के जीवंत स्मारक हैं। हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में इनका बड़ा महत्त्व है।

बी. पी. मेरी
*

हिन्दी तथा मलयालम के समान शब्दों की भिन्नरूपता का एक अध्ययन

भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में ऐसे सैकड़ों शब्द मिलेंगे जिन्हें रूप या अर्थ अथवा दोनों की दृष्टि से समान कहा जा सकता है । भारत सरकार की ओर से हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रचलित समान शब्दों की द्विभाषी सूचियां भी प्रकाशित हो चुकी हैं । इन समान शब्दों का अधिकांश संस्कृत से गृहीत तत्सम एवं तद्भव शब्दों का है । शेष शब्द अंग्रेज़ी, पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, अरबी, फ़ारसी आदि विदेशी स्रोतों से तथा भारत से द्रविड़ परिवार की भाषाओं से गृहीत हैं । आदान-प्रदान की प्रवृत्ति जितनी प्रबल गति से भाषाओं के बीच में होती है उतनी शायद और किसी भी क्षेत्र में परिलक्षित नहीं हो सकती । सैकड़ों हजारों की संख्या में प्रचलित होने वाले ये समान शब्द ही इसके साक्षी हैं । अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते समय कोई भी भाषा उन शब्दों को ज्यों का त्यों नहीं लेती; परन्तु उन्हें अपने ही साँचे में ढालकर अपनी प्रकृति के अनुसार आत्मसात् कर लेती है । इसलिए इस लेनदेन की प्रक्रिया में इन शब्दों के रूप एवं अर्थ बदल जाते हैं; अर्थात् भाषा विज्ञान की दृष्टि से ये शब्द विकसित कहे जाते हैं और ग्राहक भाषा की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति में योगदान देते हैं । इस प्रकार पूर्णतया उस भाषा की अमूल्य विधि के रूप में स्वीकृत होते हैं । इसके अतिरिक्त ऐसे भी सैकड़ों शब्द होते हैं जो अपने स्वरूप और गुणार्थ आदि को ज्यों के त्यों रूप में सुरक्षित रखते हैं । ये शब्द उस भाषा, समाज, संस्कृति आदि की अभिव्यक्ति में वरेण्य समझे जाते हैं । इस प्रकार ग्राहक भाषा के प्रसार में पर्याप्त व्यापकता आती है ।

हिन्दी तथा केरल की भाषा मलयालम में हजारों समान शब्द प्रचलित हैं ।

इनमें कई शब्द समान हिज्जों में ही प्रयुक्त होते हैं। पर बहुत से शब्दों को, अपनी अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण दोनों भाषाओं ने थोड़ा-बहुत अंतर करके ही स्वीकार किया है। फलस्वरूप ये शब्द, समान होने पर भी थोड़े परिवर्तित रूप में ही पाये जाते हैं। इस निबंध में ऐसे शब्दों के कतिपय रूप परिवर्तनों को प्रस्तुत किया गया है।

1. मलयालम् में शब्दांत में दीर्घ स्वर नहीं पाया जाता, जब कि हिन्दी की प्रकृति शब्दांत में दीर्घ स्वर लगाने की है। इसलिये अन्य भाषाओं से गृहीत दीर्घ स्वरांत शब्द मलयालम् में ह्रस्व स्वरांत हो जाते हैं। जैसे—

हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्
वीणा	वीण	वाणी	वाणि
माला	माल	नारी	नारि
कथा	कथ	खादी	खादि
आशा	आश	वादी	वादि
सीता	सीत	पत्नी	पत्नि

2. मलयालम् में पुंल्लिग शब्दों के साथ पुरुष प्रत्यय-'अन्' लगाया जाता है तथा नपुंसकलिंग शब्दों के साथ-'अम्' लगाया जाता है। अतः हिन्दी में जो मूल शब्द व्यंजनांत होते हैं वे शब्द मलयालम में इन प्रत्यय युक्त रूपों में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे,

हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्
वीर	वीरन्	सुख	सुखम्
धीर	धीरन्	वन	वनम्
देव	देवन्	जल	जलम्
पुरुष	पुरुषन्	वृक्ष	वृक्षम्
चन्द्र	चन्द्रन्	गुण	गुणम्

3. संस्कृत के कतिपय नकारांत और ऋकारांत शब्द हिन्दी में उनके

प्रथमा एकवचन में गृहीत हुए हैं। पर मलयालम में इन शब्दों के साथ '-आवु'[1] प्रत्यय लगाया जाता है। जैसे,

हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्
राजा	राजावु	वक्ता	वक्तावु
पिता	पितावु	मोष्टा	मोष्टावु
माता	मातावु	जामाता	जामातावु
नेता	नेतावु	विधाता	विधातावु
भ्राता	भ्रातावु	व्याख्याता	व्याख्यातावु
भर्ता	भर्तावु	उपभोक्ता	उपभोक्तावु
कर्ता	कर्त्तावु	नियन्ता	नियन्तावु
श्रोता	श्रोतावु	निर्माता	निर्मातावु
दाता	दातावु	रचयिता	रचयितावु
आत्मा	आत्मावु	ब्रह्मा	ब्रह्मावु

४—मलयालम् में पदांत में व्यंजन केवल न, ण, ल, ल, र और म ही होते हैं और उनके स्वर रहित रूप के लिए अलग चिह्न भी होते हैं। स्वरांत में शेष कोई भी व्यंजन आने पर उसके साथ 'संवृतोकार'[2] लगाया जाता है। कभी-कभी उन अंतिम व्यंजनों का द्वित्व भी किया जाता है। इस प्रकार संस्कृत के दिक्, वाक्, दृक् तथा अँग्रेजी के बुक्, कप् आदि मलयालम् में आकर क्रमशः दिक्कु, वाक्कु, दृक्कु, बुक्कु और कप्पु हो गये हैं। वैसे ही संस्कृत के बहुत से सकारांत शब्द उसी रूप में ही प्रचलित हैं। पर उनके अंतिम 'स' का

---

१ -'आवु' प्रत्यय में, असल में 'व' के साथ 'उ' की मात्रा नहीं, पर मलयालम के 'संवृतोकार' की मात्रा ही लगायी जाती है। हिन्दी में संवृतोकार के लिए कोई लिपि चिह्न न होने के कारण इस निबंध में संवृतोकार के लिए 'उ' की मात्रा का ही प्रयोग किया जाता है।

२ 'संवृतोकार' मलयालम की एक विशेष स्वर ध्वनि है जिसे विस्तृताकार पश्च संवृत स्वर कहा जाता है। मलयालम् में इस के लिए विशेष लिपि चिह्न है। और देखिए ए. आर. राजराजवर्मा 'केरल पाणिनीयम्'—त्रिवेन्द्रम, १९५५, पृष्ट ९८।

द्वित्व करके उसके साथ संवृतोकार लगाया जाता है। पर हिन्दी में ये शब्द 'स्' के बिना ही ग्रहण किये गये हैं। जैसे,

हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्
मन	मनस्सु	शिर	शिरस्सु
वय	वयस्सु	नभ	नभस्सु
ओज	ओजस्सु	तप	तपस्सु
तेज	तेजस्सु	उषा	उषस्सु
श्रेय	श्रेयस्सु	स्रोत	स्रोतस्सु

5-1—अनुस्वार के प्रयोग तथा उच्चारण में भी हिन्दी और मलयालम् में बहुत अंतर है। हिन्दी में अनुस्वार का उच्चारण वर्गीय नासिक्य व्यंजन के रूप में होता है और ऐसे शब्दों को अनुस्वार युक्त अथवा वर्गीय नासिक्य व्यंजन सहित लिखा जाता है। जैसे,

अंक	अङ्क	कांटा	काण्टा
पंखा	पङ्खा	ठंडा	ठण्डा
चंचल	चञ्चल	चिंता	चिन्ता
रंजित	रञ्जित	हिंदी	हिन्दी
गंगा	गङ्गा	चंपा	चम्पा

5-2—पर मलयालम् में वर्गाक्षरों में केवल ख, ग, घ, ज, ब और भ के पूर्व ही अनुस्वार का प्रयोग किया जाता है और ऐसे शब्दों को अनुस्वार के बिना लिखा भी नहीं जाता। जैसे,

शंखु	संजातम्	आरंभम्
अंगम्	आलंबम्	गंभीरम्
भंगम्	संबोधनम्	गंग

5-3—अंतस्थ और ऊष्म वर्णों के पहले तो, मलयालम् में अनुस्वार का प्रयोग हिन्दी की ही तरह किया जाता है। पर उच्चारण में अंतर है। इन वर्णों के पूर्व अनुस्वार का उच्चारण मलयालम् में 'अम्' होता है। इस लिए अंशम्, कंसन्, हिंस, सिंहम्, संयमम् आदि शब्दों को अम्शम्, कम्सन्, हिम्सम सिम्हम्, सम्यमम् आदि बोला जाता है।

5-4—ऊपर के 5-2 में कहे अनुसार, ख, ग, घ, ज, ब और भ को छोड़कर शेष किसी वर्गाक्षर के पूर्व अनुस्वार नहीं लिखा जाता। इन वर्णों के

पूर्व अनुस्वार आने पर पंचमाक्षर युक्त संयुक्त व्यंजन का अलग चिह्न होता है। इस प्रकार मलयालम् में, शङ्क, चञ्चलम्, अञ्जनम्, कुण्ठितम्, पाण्डु, चिन्त, वन्दनम् आदि शब्दों में संयुक्त व्यंजन के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग नहीं किया जाता।

5-5—केवल 'ज' ही ऐसा वर्ण है जिसके पूर्व अनुस्वार का भी प्रयोग किया जाता है तथा सवर्गीय पंचमाक्षर मिलाकर संयुक्त व्यंजन बनाया जाता है। पर जिन[1] शब्दों में 'ञ्ज' का प्रयोग होता है उन शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग नहीं किया जाता। जैसे, संजातम्, अञ्जनम्, मञ्जुकम् आदि

5-6—हिन्दी लेखन में आजकल अनुस्वार और अनुनासिक के अन्तर का ठीक पालन नहीं किया जाता; फिर भी हिन्दी में ये भिन्न ध्वनियाँ हैं और इनके आधार पर अन्य भेद भी होता है जैसा कि 'हँस' और 'हंस' में है। पहला शब्द क्रिया है और दूसरा संज्ञा। पर मलयालम् में अनुनासिक का प्रयोग नहीं होता। इसलिए हिन्दी में जहाँ अनुनासिक लिखा जाता है, वहाँ मलयालम में या तो अनुस्वार लिखा जाता है या सवर्गीय पंचमाक्षर युक्त संयुक्ताक्षर लिखा जाता है। जैसे,

हिन्दी		मलयालम्
माँस	:	मांसम्
आकाँक्षा	:	आकांक्ष
दाँत	:	दन्तम्

6-1—सैकड़ों साल संस्कृत के प्रभाव में रहकर भी, तथा संस्कृत के हजारों शब्दों को ग्रहण करने पर भी, मलयालम में द्रविड़ विशेषताओं का होना स्वाभाविक है। इनका प्रभाव संस्कृत से गृहीत शब्दों पर भी पड़ा है। इनमें एक है मलयालम की उच्चारण-विशेषता और दूसरी है तदनुरूप लेखन में आया हुआ परिवर्तन। मलयालम् में एक ही लिपि का, शब्दारम्भ में अघोष तथा शब्द मध्य और अन्त में संघोष उच्चारण होता है। अतः वर्तनी में भ्रम

---

1 डॉ० गुंडर्ट के मलयालम् शब्द कोष में "सञ्जातम्" लिखा हुआ है। पर साधारणतया "संजातम्" ही लिखा जाता है। Rev. H. Gundert D. Phil. 'A Malayalam and English Dictionary', 1872 Page 1030.

होता है और बहुत से शब्दों के मध्य तथा अन्त के वर्णों में परिवर्तन हो जाता है । इसके अतिरिक्त मलयालम् में 'ब' को छोड़कर शेष सघोष अल्प प्राण वर्णों के पूर्व नासिक्य मिलने पर नासिक्य समीकरण (nasal assimilation) होता है और नासिक्यद्वित्वध्वनि उच्चरित होती है । ऐसे संदर्भों में जहाँ द्वित्व नासिक्य उच्चारण भ्रामक होता है, संयुक्ताक्षर के सघोष वर्ण के स्थान पर अघोष वर्ण लिखा जाता है । जैसे,

हिन्दी	मलयालम्
पंजाब	पञ्चाबु
तंजावूर	तञ्चावूर
गंजा	कञ्चावु
अंगी	अङ्कि
चुंगी	चुङ्कम्
इंजन	इञ्चन्

६-२—कुछ शब्दों में मध्य तथा अन्त का सघोष, अघोष में परिवर्तित हो गया है । जैसे—

हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्
तद्भव	तत्भवम्	पद्मा	पत्मम्
उद्भव	उत्भवम्	मैदान	मैतानम्
अद्भुत	अत्भुतम्	ताकीद	ताक्कीतु

६-३—कुछ शब्दों में महाप्राण शब्द अल्प प्राण हो जाते हैं और कभी कभी उन अल्प प्राण शब्दों का द्वित्व हो जाता है । जैसे—

हिन्दी	मलयालम्
पंखा	पङ्क
चर्खा	चक्कं
सिख	सिक्कु
लांछन	लाञ्चन

७—मलयालम में संयुक्ताक्षर में पूर्व वर्ण 'र' होने पर परवर्ती अल्पप्राण, नासिक्य तथा अन्तस्थ वर्णों का द्वित्व होता है । इसलिए हिन्दी में प्रचलित रूप से मलयालम् शब्दों के हिज्जे भिन्न होते हैं ।

हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्
तर्क	तर्क्कम्	कर्टण	कर्ट्टण	अर्पण	अर्प्पणम्
मार्ग	मार्ग्गम्	कर्ण	कर्ण्णन्	दुर्बल	दुर्ब्बलम्
चर्चा	चर्च्चं	कर्तव्य	कर्त्तव्यम्	कर्म	कर्म्मम्
अर्जुन	अर्ज्जुनन्	मर्दन	मर्द्दनम्	कार्य	कार्य्यम्
		सर्व	सर्व्वम्	गर्व	गर्व्वु

मलयालम् में बहुत से शब्दों में, विशेषकर अरबी-फ़ारसी से गृहीत शब्दों में अल्पप्राण और नासिक्य वर्णों का द्वित्व हो गया है। जैसे,

हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्
टोपी	तोप्पि	चूना	चुण्णाम्पु
बाकी	बाक्कि	कमी	कम्मि
पापड़	पप्पडम्	जिन	जिन्नु
नोटिस	नोट्टीसु	घाट	घट्टम्
तकावी	तक्कावि	चटनी	चट्टिणि

ऊपर के उदाहरणों में यह भी देखा जा सकता है कि हिन्दी का दीर्घ स्वर मलयालम में ह्रस्व हो गया है।

9. अरबी फारसी और अंग्रेजी की 'फ़' और 'ज़' ध्वनियाँ मलयालम् में नहीं हैं। कुछ शब्दों में मलयालम् में भी हिन्दी की ही तरह 'फ़' के लिए 'फ' का व्यवहार किया जाता है। जैसे, 'फैषन्' 'फस्ट', 'फादर' आदि। पर बहुत से शब्दों में 'फ़', 'प' या 'प्प' में परिवर्तित होता है। जैसे,

हिन्दी	मलयालम्	हिन्दी	मलयालम्
अफसर	आप्पीसर	मेज़	मेश
मुनसिफ़	मुनसिप्पु	ज़मीन्दार	जमीन्तार्
फीता	पीत्त	बाज़ार	बसार्
फ़िरंगी	परङ्कि	खज़ाना	खजान
काफ़ी	काप्पि	हाज़िर	हाजर्
फ़कीर	पक्कीरु	हज़	हज्जु
सिफारिश	शुपार्श	ज़िला	जिल्ल

इस प्रकार हिन्दी और मलयालम् की विभिन्न प्रकृतियों के कारण हजारों समान शब्दों के हिज्जों में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो गया है। परिवर्तन की इन दिशाओं का अध्ययन करने से दोनों भाषा-भाषियों को दूसरी भाषा सीखने में बहुत ही सहायता मिल सकती है और दो भिन्न परिवारों की मानी जाने वाली ये भाषाएँ कम से कम शब्दावली के क्षेत्र में बहुत निकट दिखाई देंगी।

रामकृष्ण नावडा

★

कन्नड़ और हिन्दी संख्यावाचक विशेषण

हिन्दी में संख्यावाचक विशेषण के दो प्रकार हैं। निश्चित संख्यावाचक और अनिश्चित संख्यावाचक। फिर निश्चित संख्यावाचक के भी उप भेद हैं— पूर्णांक बोधक, अपूर्णांक बोधक, क्रम वाचक, आवृत्ति बोधक और समूह वाचक। अनिश्चित संख्यावाचक विशेषणों के प्रयोग का जहाँ तक प्रश्न है, कन्नड़ तथा हिन्दी में विशेष अन्तर पाया नहीं जाता। परन्तु इन भाषाओं के निश्चित संख्यावाचक विशेषणों में पर्याप्त अन्तर है और यह अन्तर दक्षिण की अन्य भाषाओं में भी पाया जाता है। अब एक-एक करके हम दोनों भाषाओं के इन विशेषणों का परीक्षण करें।

पूर्णाङ्क बोधक :

कन्नड़ में एक से बीस तक की गिनती इस प्रकार है (1) ओंन्दु (2) ऍरडु (3) मूरु (4) नाल्कु (5) ऐदु (6) आरु (7) एलु (8) ऍण्टु (9) ओंम्भत्तु (10) हत्तु (11) हन्नोंन्दु (12) हन्नेंरडु (13) हदिमूरु (14) हदिनाल्कु (15) हदिनैदु (16) हदिनारु (17) हदिनेलु (18) हदिनेंण्टु (19) हत्तोम्भत्तु (20) इप्पत्तु

इन संख्याओं को देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि इकाई और दहाई के जुड़ने से शब्दों में उतना विकार नहीं आता जितना कि हिन्दी में। हिन्दी में इकाइयों का रूप बहुत विकृत होता है, जैसे :—

कन्नड़			हिन्दी		
हत्तु १०	ओंन्दु १	हन्नोंन्दु	दस	एक	ग्यारह
हत्तु १०	ऍरडु २	हन्नेंरडु	दस	दो	बारह

कन्नड़ में बीस के बाद सौ तक तीस, चालीस आदि पूर्ण दहाई सूचक शब्दों को ही याद करना पर्याप्त होता है। इनके बीच की संख्याओं को याद करना

नहीं पड़ता, क्योंकि इकाइयों एवं दहाइयों के जुड़ने से शब्दों में विकार नही आता, जैसे :—

कन्नड़		हिन्दी
इप्पत्त—ओन्दु	21	इक्कीस
इप्पत्त—ऍरडु	22	बाईस
इप्पत्त—मूरु	23	तेईस
इप्पत्त—नाल्कु	24	चौबीस
इप्पत्त—ऐदु	25	पच्चीस
मूवत्तु	30	तीस
मूवत्त—ओॅन्दु	31	इकतीस
मूवत्त—ऍरडु	32	बत्तीस
नलवत्तु	40	चालीस
नलवत्त—ऐदु	45	पैंतालीस
ऐवत्तु	50	पचास
ऐवत्त—एलु	57	सत्तावन

अपूर्णाङ्क बोधक :

पाव या एक चौथाई ($\frac{1}{4}$), आधा ($\frac{1}{2}$) और पौना ($\frac{3}{4}$) ऐसे साधारण नित्योपयोगी अपूर्णाङ्क बोधक हैं, जिनका प्रयोग शिक्षित-अशिक्षित सभी करते हैं। हिन्दी में ($\frac{1}{4}$) को सूचित करने के चार भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, ($\frac{1}{2}$) के तीन तथा ($\frac{3}{4}$) के दो, पर कन्नड़ में इन तीन अपूर्णाकों के लिए तीन ही शब्द हैं। निम्न तालिका से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

अरें	आधा
ओन्दूवरें	डेढ़
ऍरडूवरें	ढाई
मूरूवरें	साढ़े तीन
कालु	पाव
ओॅन्दुकालु	सवा
ऍरडू कालु	सवा दो
मुक्कालु	पौन
ओॅन्दूमुक्कालु	पौने दो

क्रम वाचक :

हिन्दी में एक से छः तक की क्रमवाचक संख्याएँ अपने मूल रूप से बहुत भिन्न हो जाती हैं पर कन्नड़ में एक ही प्रत्यय प्रत्येक संख्या के साथ जोड़ा जाता है और इससे मूल शब्द में कोई विकार नहीं आता जैसे :—

ओॅन्दु	ओॅन्दनें	एक	पहला
ऍरडु	ऍरडनें	दो	दूसरा
मूरु	मूरनें	तीन	तीसरा
नाल्कु	नाल्कनें	चार	चौथा
ऐदु	ऐदनें	पांच	पाँचवाँ
आरु	आरनें	छः	छठा

आवृत्ति वाचक :

हिन्दी में दो से आठ तक के आवृत्ति वाचक विशेषणों के मूल शब्द में विकार आ जाता है जब कि कन्नड़ में वैसा विकार नहीं आता। केवल संख्या सूचक शब्दों के अन्त का "उ" अ हो जाता है।

ऍरडरष्टु	दुगुना
मूररष्टु	तिगुना
नाल्करष्टु	चौगुना
ऐदरष्टु	पंचगुना
एलरष्टु	सतगुना
ऍण्टरष्टु	अठगुना

समूह वाचक :

हिन्दी के बीसों, पचासों और दो-चार, पाँच-सात का प्रयोग कन्नड़ में नहीं पाया जाता पर दसों (हत्तारु) सैकड़ों (नूरारु) लाखों (लक्ष-गट्टले) और करोड़ों (कोटिगट्टले) ये विशेषण पाये जाते हैं। तीन-चार, छः-सात, आठ-दस, चालीस-पचास, साठ-सत्तर आदि विशेषणों का उसी प्रकार प्रयोग होता है जैसा कि हिन्दी में।

हिन्दी सीखने वाले कन्नड़ भाषी तथा कन्नड़ सीखने वाले हिन्दी भाषी दोनों यदि संख्यावाचक विशेषणों के सम्बन्ध में उपर्युक्त बातों का ध्यान रखें तो इनके प्रयोगों की अशुद्धियों से बच सकते हैं।

जयकृष्ण विद्यालंकार

*

हिंदी व्याकरण ग्रन्थों की एक समीक्षा

व्याकरण लिखने की परम्परा भारत में बहुत पुरानी है। व्याकरण को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का जैसा प्रयास प्राचीन काल में यहाँ किया गया, वैसा अन्य देशों में नहीं हो सका। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन सभ्यता के केन्द्र यूनान में भी व्याकरण के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया गया था। भारत में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि के सुगठित व्याकरण लिखे गए हैं। इनमें पाणिनीय संस्कृत व्याकरण में जैसा अच्छा वैज्ञानिक विवेचन किया गया है, वैसा किसी अन्य व्याकरण में दिखाई नहीं देता। संस्कृत के व्याकरण के विषय में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मन्तव्य है—

"संस्कृत का व्याकरण-शास्त्र केवल प्रकृति-प्रत्यय का विधान मात्र नहीं है। वह अपने आप में परिपूर्ण दर्शन है। उसका रहस्य जानने वाला भाषा-मात्र का रहस्य समझता है। आधुनिक भाषा विज्ञान ने कई बातों में बड़ी उन्नति की है किन्तु प्रत्येक भाषाशास्त्री संस्कृत की अत्यन्त परिष्कृत विचार-शैली का महत्त्व स्वीकार करता है।"

व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा होते हुए भी हिन्दी के व्याकरण लिखने की ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया। सूर, तुलसी, बिहारी आदि के सरस साहित्य के विकास हो जाने पर भी ब्रज और अवधी के व्याकरण इतनी सूक्ष्मता से नहीं लिखे गए।

हिन्दी के व्याकरण लिखने की परम्परा का आरम्भ कहाँ से होता है—यह कहना कठिन है। हिन्दी भाषा के व्याकरण लिखने का प्रारम्भिक प्रयास विक्रम की १८वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। औरंगजेब के शासन काल (१७०४ से १७५४ वि०) में मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का परिचयात्मक संक्षिप्त व्याकरण लिखा और प्रायः उसी समय हालैंड-निवासी जोहन जोशुआ केटेलर ने हिन्दुस्तानी का एक व्याकरण लिखा जिसका परिचय डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ में "हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण" शीर्षक एक लेख में दिया था। इसके पश्चात् योरोपियनों का भारत में सम्पर्क बढ़ने लगा और उन्होंने अपने देशवासियों को हिन्दी सिखाने के लिए अनेक व्याकरण लिखे, जिनमें केलाग द्वारा लिखित "ए ग्रामर आफ हिन्दी लैंग्वेज" और काशी के पादरी एथरिंगटन द्वारा लिखित "भाषा भास्कर" विशेष उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजों के द्वारा लिखित सभी व्याकरण अंग्रेज़ी के आधार पर लिखे गए। केलाग ने अंग्रेज़ी की तरह हिन्दी के भी शब्दों के संज्ञा, सर्वनाम आदि आठ वर्ग माने हैं। यहाँ तक कि हिन्दी में भी 'प्रिपोजिशन' की सत्ता स्वीकार की गई है। इसमें आगे, पीछे, ऊपर, नीचे आदि की गणना की गई है। केलाग के व्याकरण के दूसरे संस्करण में हिन्दी और उसकी तेरह बोलियों का व्याकरण प्रस्तुत किया गया है। इस संस्करण में 'तेरह अध्याय' हैं और इसमें हिन्दी के वाक्य विन्यास और छन्दों पर भी विचार किया गया है।

"भाषा भास्कर" में हिन्दी के व्याकरण को स्थूल रूप से संज्ञा, क्रिया और अव्यय तीन भागों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार हिन्दी व्याकरण लिखने का कार्य विदेशियों ने आरम्भ किया और उसकी रचना में अंग्रेज़ी के व्याकरण के नमूने को सामने रखा गया।

हिन्दी व्याकरणों में 'भाषा भास्कर' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका पहला कारण तो यह है कि यह ग्रन्थ बहुत समय तक स्कूलों में हिन्दी के पाठ्यक्रम का भाग रहा और दूसरा यह कि इसके बाद बने हुए व्याकरणों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। 'भाषा भास्कर' पर अंग्रेज़ी और संस्कृत दोनों का ही प्रभाव है।

अंग्रेजों के द्वारा लिखे हुए व्याकरणों का प्रधान लक्ष्य अंग्रेजों को हिन्दी सिखाना था। इसलिए उनके समक्ष भाषा का व्यावहारिक पक्ष ही रहा। भाषा और व्याकरण के सैद्धान्तिक पक्ष की उनमें चर्चा नहीं है। दूसरी बात यह है कि उनके लिए हिन्दी विदेशी भाषा थी, अतः क्रिया और लिंग आदि के विषय में भ्रम रह जाना स्वाभाविक ही था। यह हिन्दी व्याकरणों की रचना का प्रथम चरण था। अंग्रेज़ों ने हिन्दी व्याकरण लिखकर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस कमी की ओर आकृष्ट किया।

हिन्दी व्याकरण का दूसरा दौर विक्रम की २० वीं शती के प्रारम्भ से चलता है। इस समय स्कूलों के पाठ्यक्रम में हिन्दी के व्याकरण को स्थान

मिल चुका था। इसलिए इस दौर में पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखकर हिन्दी व्याकरण की उपयोगी पुस्तकें लिखी गईं। हिन्दी और हिन्दुस्तानी का विवाद इसी समय आरम्भ हुआ। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' में हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा स्वीकार किया है। इस समय भी हिन्दी और उर्दू को एक भाषा मानकर लिखे गए व्याकरणों का आधार अंग्रेजी व्याकरण ही था। राजकीय शिक्षा विभाग भी ऐसे ही व्याकरणों को पसन्द करता था। इसके विपरीत बा० रामचरण सिंह ने खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से "भाषा प्रभाकर" प्रकाशित किया, जिसे पं० अम्बिकादत्त व्यास ने संशोधित किया। इसी प्रकार हिन्दी तथा उर्दू को पृथक् मानने वाले विद्वानों ने संस्कृत के आधार पर हिन्दी-व्याकरणों की रचना की। स्व० बा० श्याम-सुन्दरदास जी ने भी इस समय एक व्याकरण "एन एलिमेन्टरी ग्रामर आफ हिन्दी एण्ड उर्दू" की रचना की। उन्होंने उसकी प्रस्तावना में लिखा—

"इस व्याकरण के निर्माण में मैंने संस्कृत व्याकरण के अनुरूप हिन्दी व्याकरण लिखने की पिष्टपेषित पद्धति का अनुसरण नहीं किया है। हिन्दी यद्यपि मूलतः संस्कृत से ही उत्पन्न हुई है, परन्तु अब उसने इतना भिन्न और स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर लिया है कि उपर्युक्त पद्धति का अनुसरण किसी भी तरह समीचीन अथवा सुरक्षित नहीं है। इसके अतिरिक्त आज किसी भी विद्यार्थी की शिक्षा अंग्रेजी भाषा के सन्तोषजनक ज्ञान के बिना पूर्ण नहीं समझी जाती। अस्तु, यदि अंग्रेजी भाषा के व्याकरणों को आदर्श मानकर हिन्दी उर्दू व्याकरणों की रचना की जाए तो उससे अंग्रेज़ी भाषा सीखने में भी सुविधा होगी। इसीलिए मैंने अब तक जिस सिद्धान्त पर हिन्दी उर्दू के व्याकरण बने थे, उसे छोड़कर अंग्रेज़ी व्याकरणों के निर्देशों को स्वीकार किया है।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि इस दौर में लिखे गए व्याकरणों के आधार संस्कृत या अंग्रेज़ी के व्याकरण रहे। ये व्याकरण पाठशालाओं के पाठ्यक्रम के लिए लिखे जाने के कारण छात्रोपयोगी और लघुकाय बनाए गए। इनमें कोई भी व्याकरण बृहत् और पूर्ण नहीं है। इसलिए नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी की इस कमी को पूरा करने के लिए बाबू गंगाप्रसाद एम० ए० तथा पं० रामकर्ण शर्मा से हिन्दी व्याकरण लिखने के लिए कहा। इन्होंने जो व्याकरण लिखे, उनसे सभा को सन्तोष नहीं हुआ।

ऐसी परिस्थिति में महावीर प्रसाद द्विवेदी और माधव राव सप्रे के आग्रह

पर यह कार्य भार पं० कामता प्रसाद गुरु को सौंपा गया। गुरु जी ने बड़े अध्यवसाय से इस महत् कार्य को पूरा किया।

पं० कामता प्रसाद गुरु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों के अध्यवसाय से जो हिन्दी व्याकरण बना उसका स्थान आज भी सर्वोपरि है। किन्तु इसके निर्णय में लेखक ने कहीं अँग्रेजी और कहीं संस्कृत के व्याकरणों को आधार बनाया है। लेखक ने इस व्याकरण की भूमिका में स्वयं लिखा है—

"यह व्याकरण अधिकांश में अंग्रेजी व्याकरण के ढङ्ग पर लिखा गया है। इस प्रणाली के अनुसरण का मुख्य कारण यह है कि हिन्दी में आरम्भ से ही इसी प्रणाली का उपयोग किया गया है और आज तक किसी लेखक ने संस्कृत प्रणाली का कोई पूर्ण आदर्श उपस्थित नहीं किया।"

इसके बाद हिन्दी में भाषा विज्ञान का अध्ययन आरम्भ हो गया। भाषा-विज्ञान के अध्ययन से भाषा और व्याकरण की अनेक गुत्थियाँ सुलझीं तथा अनेक संकल्पनाएँ स्पष्ट हुईं और धीरे-धीरे हिन्दी का रूप भी बदलने लगा। हिन्दीतर क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार आरम्भ हो गया। ऐसा स्थिति में नागरी प्रचारिणी सभा में हिन्दी के नवीन व्याकरण की रचना की बात सोची और पं० किशोरीदास वाजपेयी को यह कार्य सौंपा गया।

पं० किशोरीदास वाजपेयी ने अत्यन्त परिश्रम और लगन से इस व्याकरण की रचना की और व्याकरण की अनेक संकल्पनाओं के विषय में मौलिक दृष्टि से विचार किया है। इसके प्रतिपाद्य विषय को ध्यान में रखकर लेखक ने इसका नाम "हिन्दी शब्दानुशासन" रखा। यह ग्रन्थ 2014 वि० में प्रकाशित हुआ।

इसमें ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक दोनों दृष्टियों से हिन्दी भाषा पर विचार किया गया है तथा आवश्यकतानुसार यथावसर शब्दों की व्युत्पत्ति भी दी गई हैं। इसमें शब्दों के विधान और अपवाद के साथ उनके उद्भव पर भी विचार किया गया है। इन सब कारणों से इसके व्याकरण पक्ष पर भाष्य पक्ष ऐसा छा गया है कि यह व्याकरण और भाष्य के कुछ बीच की चीज बन गई है।

इस ग्रन्थ में भी अधिकांश रूप में संस्कृत के व्याकरण का आधार ग्रहण

किया गया है। इसका कारण कदाचित् यह है कि नागरी प्रचारिणी सभा के व्याकरण-योजना-मण्डल का ऐसा ही प्रस्ताव था। इसलिए संस्कृत की व्याकरणिक संकल्पनाओं का इस ग्रन्थ में आ जाना स्वाभाविक ही था।

इधर संविधान में हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किए जाने के बाद सरकार का ध्यान हिन्दी के विकास की ओर गया। भाषा शास्त्र के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के अनुसन्धान होने लगे। सरकारी क्षेत्र में भाषा विषयक अनुसन्धानों के प्रकाश में हिन्दी के नवीन व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इस उद्देश्य के लिये 1954 ई० में भारत सरकार ने एक समिति बनाई।

इस समिति के निर्देशन में डा० आर्येन्द्र शर्मा ने "ए बेसिक ग्रामर आफ माडर्न हिन्दी" की रचना की। यह ग्रन्थ अंग्रेज़ी में लिखा गया। डाक्टर शर्मा ने इसे नवीन और आधुनिक दृष्टिकोण से लिखा। इस व्याकरण में निम्नलिखित बातों पर नवीन पद्धति से विचार किया गया है—हिन्दी वर्णों का उच्चारण, सन्धि, परसर्ग, क्रिया, कारक, वाक्य विन्यास।

भारत सरकार ने इसे 1958 ई० में प्रकाशित किया।

आधुनिक काल में विद्यालयों के पाठ्यक्रम के लिए और भी अनेक व्याकरण लिखे गये। इन व्याकरणों में समस्याओं पर मूल रूप से विचार नहीं किया गया, अपितु अधिकांश में कामता प्रसाद गुरु के व्याकरण की सहायता से छात्रोपयोगी बनाकर प्रकाशित करा दिया गया।

हिन्दी व्याकरणों की इस समीक्षा से यह स्पष्ट है कि इन सब व्याकरणों के रहते हुए भी हिन्दी के आज के रूप को दृष्टि में रखकर तथा नवीन अनुसन्धानों के प्रकाश में हिन्दी की मौलिक व्याकरणिक कोटियों के आधार पर एक प्रामाणिक व्याकरण के निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता है।

चतुर्भुज सहाय

★

हिन्दी क्रिया की काल रचना

हिन्दी क्रिया की काल रचना अत्यन्त दुरूह हो चुकी है। क्रिया की पूर्ण, अपूर्ण और सामान्य अवस्थाओं और उसकी भिन्न-भिन्न वृत्तियों (Moods) के संयोग से हिन्दी कालों की संख्या सोलह तक पहुँच गई है।

किन्तु क्रियाओं का यह काल विभाजन तर्कसम्मत नहीं है। लोक में जब सामान्य रूप से तीन ही काल हैं (वर्त०, भूत०, भवि०) तो व्याकरण में सोलह कालों की कल्पना बेतुकी जान पड़ती है। व्याकरण लोकानुभव पर आधारित होता है। लोक में घटने वाले व्यापार काल की दृष्टि से तीन प्रकार के होते हैं—भूतकाल में घटने वाले, वर्तमान में घटने वाले और भविष्य में घटने वाले व्यापार। फिर इन लोक व्यापारों को व्यक्त करने वाली क्रियाएँ तीन से अधिक कालों में कैसे व्यवहृत हो सकती हैं? रचना प्रणाली के आधार पर मौलिक काल और यौगिक काल की कल्पना एकदम तर्कहीन हैं। मौलिक काल और यौगिक काल कहने से कालगत कौन-सी विशेषता प्रकट होती है, यह समझ में नहीं आता। भेदक विशेषताओं के आधार पर ही कालों का विभाजन होना चाहिए। निश्चय ही क्रियाओं के काल-विभाजन का जो आधार हिन्दी व्याकरणों में अपनाया गया—उसमें कहीं न कहीं त्रुटि है।

हिन्दी में व्यापार की अवस्थाओं और वृत्तियों (Moods) को काल की विशेषता मान लेने से उसके विभाजन की यह दूरारूढ़ योजना करनी पड़ी। जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि वृत्तियाँ और अवस्थाएँ कालगत विशेषताएँ नहीं हैं। उनके आधार पर काल विभाजन करना अवैज्ञानिक है। उदाहरण—

(1) वह पढ़ रहा था (भूत० अपूर्ण)*

(2) वह पढ़ता था (भूत० अभ्यास)

---

* ये दोनों रूप (पढ़ रहा था और पढ़ता था) एक दूसरे के स्थान पर भी व्यवहृत होते हैं। तब भी अपूर्ण और 'अभ्यास' इन दोनों अवस्थाओं की स्थिति असंदिग्ध है।

(3) उसने पढ़ा (भूत० पूर्ण)

यहाँ तीनों क्रियाएँ भूतकाल की हैं।

किन्तु व्यापार की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं। पहले उदाहरण में अपूर्ण व्यापार की ओर संकेत है। दूसरे और तीसरे में क्रमशः व्यापार की अभ्यास और पूर्ण अवस्था की ओर संकेत है। कहने का तात्पर्य यह कि पूर्ण-अपूर्ण और अभ्यास काल की विशेषता के द्योतक न होकर व्यापार की अवस्थाओं के द्योतक हैं। अतः इनके आधार पर एक भूतकाल को तीन भागों में (अपूर्ण, पूर्ण और अभ्यास) विभक्त कर देना अनुपयुक्त है। व्यापार की अवस्था और व्यापार की अवस्था के घटने का काल—ये भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। व्यापार की एक अवस्था भिन्न-भिन्न कालों में दिखायी जा सकती है। काल अविभाज्य होता है। उसमें घटने वाले व्यापार पूर्ण, अपूर्ण हुआ करते हैं। इसलिए व्यापार की अवस्थाओं के आधार पर काल-विभाजन नहीं होना चाहिए।

व्यापार की तीन अवस्थाएँ निश्चित की जा सकती हैं—पूर्ण, अपूर्ण और अभ्यास। जहाँ व्यापार खतम हो चुका है, वह उसकी पूर्ण अवस्था है—जैसे उसने किताब **पढ़ी**। उसने गाना **गाया**। उसने चित्र **देखा**। पढ़ने, गाने और देखने का व्यापार खतम हो चुका है। इसलिए यहाँ व्यापार पूर्ण है।

जहाँ कोई व्यापार अबाधित चल रहा हो, वहाँ व्यापार की अपूर्णावस्था है। अपूर्ण व्यापार को अबाधित कहा गया क्योंकि यदि व्यापार बाधित होकर चलेगा तो वह क्रिया की अभ्यास वाली अवस्था हो जाएगी।

वह पढ़ रहा है।

वह गा रहा है।

वह देख रहा है।

यहाँ तीनों क्रियाएँ अपूर्ण हैं क्योंकि जिस क्षण से ये आरम्भ हुए हैं, अब तक पूर्ण नहीं हो सकी हैं और इन क्रियाओं के भावकाल (Duration) में कोई अन्य क्रिया नहीं हो सकती। यदि होती भी है तो उससे इन क्रियाओं की निष्पत्ति में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। जैसे—वह पढ़ते-पढ़ते **जा रहा है**। यहाँ एक साथ दो व्यापार होने पर भी दोनों एक दूसरे से अबाधित हैं। इसलिए जा रहा है—अबाधित अपूर्ण है।

जहाँ कोई व्यापार रुकता चलता हो तो वह क्रिया की अभ्यास वाली

अवस्था है। इस प्रकार की क्रिया न तो पूर्ण होती है (क्योंकि वह आगे भी चलती रहती है) और न अपूर्ण (क्योंकि यह बाधित होती चलती है)। इस व्यापार के बीच में अनेक व्यापार होते चलते हैं। जैसे—

"वह स्कूल **जाता है**।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह पिछले कई दिन स्कूल गया और आगे भविष्य में भी जाता रहेगा। स्कूल जाने की क्रिया बार-बार होती है और हर बार की क्रिया अपने में पूर्ण होती है। एक दिन के स्कूल जाने से समय से दूसरे दिन के स्कूल जाने के समय तक-इस अन्तराल में- वह खेलना, पढ़ना, सोना, खाना अनेक व्यापारों को कर सकता है।

कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं जिनकी अभ्यास वाली अवस्था में सन्देह हो सकता है।

(1) कच्ची दीवाल बरसात में गिरती है।

जो दीवाल एक बार गिर गई उसके फिर उठकर गिरने की सम्भावना नहीं रहती। अर्थात् गिरने का व्यापार अभ्यासित नहीं हो सकता। दूसरा उदाहरण—

(2) मनुष्य मरता है।

'मरने' की क्रिया भी दुहराई नहीं जा सकती। इसलिए उसे अभ्यास नहीं माना जा सकता किन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति में कई दीवालों के गिरने और कई मनुष्यों के मरने का भाव अपेक्षित रहता है।

अवस्थाओं का सम्बन्ध मुख्य रूप से वक्ता के मनोजगत से होता है। उसका अभिप्राय व्यापार की जिस अवस्था से होगा, व्याकरण में वही अवस्था स्वीकार्य होगी, बाह्यजगत में वह अवस्था भले न हो।

उदाहरण :—

कल वह **पढ़ रहा था**।

व्याकरण में 'पढ़ रहा था' क्रिया अपूर्ण मानी जाएगी क्योंकि वक्ता का संकेत क्रिया की अपूर्णविस्था की ओर है। यद्यपि बाह्यजगत में 'पढ़ रहा था' क्रिया पूर्ण हो चुकी है। कल की क्रिया आज (जब वक्ता कह रहा हो) निश्चय ही पूर्ण हो चुकी है। यदि वह अब भी अपूर्ण होती तो वक्ता उसे वर्तमान अपूर्ण (पढ़ रहा है) कहता।

इसी तरह अन्य उदाहरण :—

कल वह इस समय तक खा चुकेगा (भवि० पूर्ण)

कल वह इस समय स्कूल जाता रहेगा (भवि० अपूर्ण)

तुम्हारी याद मुझे तड़पाती रहेगी (भवि० अभ्यास)

यहाँ तीनों क्रियाएँ भविष्य काल की हैं। बाह्य जगत में अभी इनका आरम्भ भी नहीं हुआ है फिर इनके पूर्ण-अपूर्ण होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु वक्ता के मनोजगत में ये क्रियाएँ क्रमशः पूर्ण-अपूर्ण और अभ्यास की अवस्था में मानी जाएँगी।

अवस्थाओं का सम्बन्ध मुख्य रूप से वक्ता के मनोजगत से होने पर भी लोकानुभव से उनका सम्बन्ध एकदम विच्छिन्न नहीं है। व्याकरण लोकानुभव पर आधारित होता है, यह पहले कहा जा चुका है। इसलिए व्यापार की अवस्थायें भी काल्पनिक नहीं हैं। लोक में व्यापार की तीन अवस्थाएँ होती है—पूर्ण, अपूर्ण और अभ्यास। इन्हीं पर व्याकरण जगत में होने वाले व्यापारों की अवस्थाएँ आधारित है। केवल इन अवस्थाओं के स्थितिकाल वक्ता के मनोजगत से सम्बद्ध हैं।

वृत्तियों के आधार पर किया गया काल विभाजन भी त्रुटिपूर्ण है। वृत्तियों से कोई कालगत विशेषता नहीं प्रकट होती। वृत्तियाँ बात कहने की एक शैली हैं। उनका सम्बन्ध काल से अथवा वक्ता की मनोवृत्तियों से उतना नहीं रहता जितना किसी व्यक्तव्य को प्रस्तुत करने की रीति से होता है।

इसलिए अवस्थाओं और वृत्तियों को लेकर कालों की दूरारूढ़ योजना करना व्याकरण को सामान्य लोकानुभव से विच्छिन्न करना है। सोलह कालों की कल्पना केवल कल्पना की वस्तु है। व्यवहार में इससे कठिनाई छोड़ सहूलियत कभी नहीं हो सकती। व्याकरण लोक के जितना निकट होता है वह उतना ही सहज और सुबोध होता है।

हिन्दी क्रियाओं की काल रचना को बहुत ही स्वच्छ और तर्कसम्मत आधार पर रखा जा सकता है। पं० कामता प्रसाद गुरु ने अपने हिन्दी व्याकरण में वृत्तियों (Moods) से अनाच्छादित क्रिया की काल रचना[1] दी है। वृत्तियों के साथ-साथ अवस्थाओं को काल से पृथक् कर देने पर सामान्य रूप से उसके छह भेद हो सकेंगे।

---

1 हिन्दी व्याकरण, पं० कामता प्रसाद गुरु

सबसे पहले काल के तीन खण्ड होंगे—वर्तमान, भूत और भविष्य। आगे, कालों की दूरी और निकटता के आधार पर भूत और भविष्य के दो-दो भेद और होंगे।

भूत (निकटवर्ती)

वह स्कूल गया। वह स्कूल गया है।

भूत (दूरवर्ती)

वह स्कूल गया था।

भविष्य (निकटवर्ती)

वह बनारस जा रहा है। (जाएगा)

भविष्य (दूरवर्ती)

वह बनारस जाएगा।

यहाँ कालगत दूरी और निकटता सापेक्षिक है।

वर्तमान में 'दूरी' नहीं होती। इसलिए उसका विभाजन 'दूरी' और 'निकटता' के आधार पर करना गलत है। वर्तमान के दो भेद इस तरह होंगे।

(१) तात्कालिक वर्तमान

वह पढ़ रहा है।

(२) सामान्य वर्तमान

वह पढ़ता है।

सामान्य वर्तमान, भूत और भविष्य को अपने में समेटे रहता है। हिन्दी क्रियाओं की काल-रचना की तालिका इस प्रकार होगी।
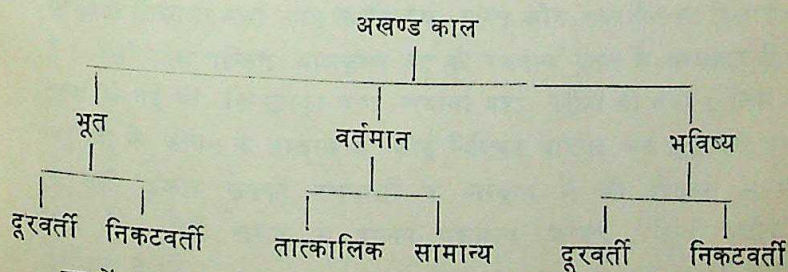
कालों का सम्बन्ध भी कभी-कभी केवल वक्ता के मनोजगत से रह जाता है।

उदाहरण—

कल मैंने उससे बाजार चलने को कहा। लेकिन उसने कहा कि मैं पढ़ रहा हूँ, बाजार नहीं जाऊँगा।

यहाँ पढ़ रहा हूँ और जाऊँगा दोनों क्रियायें लोक में भूतकाल की मानी जाएँगी क्योंकि ये क्रियाएँ कल (भूत) तक ही सीमित हैं। किन्तु वक्ता के मनोजगत में वे क्रियाएँ क्रमशः वर्तमान और भविष्य काल की हैं।

मधुकर भट्ट

*

हिन्दी का प्रथम उपन्यास
पं० बाल कृष्ण भट्ट का "रहस्य कथा"

हिन्दी साहित्य में उपन्यास का रूप हमें बीसवीं शताब्दी के पिछले कुछ दशकों से दिखायी पड़ता है। आज हिन्दी के प्रथम उपन्यास के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। इस विवाद को हल करते हुए अधिकतर विद्वान आलोचकों ने लाला श्रीनिवासदास के "परीक्षा गुरु" को हिन्दी के प्रथम उपन्यास की मान्यता दी। यद्यपि प्रसिद्ध विद्वान डा० श्रीकृष्णलाल ने भी लाला श्रीनिवासदास के "परीक्षा गुरु" को ही हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना। पर आपने अपने ग्रन्थ "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" के "उपन्यास" शीर्षक अध्याय के आरम्भ में ही लिखा है, "हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप का विकास बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हुआ। हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास बाबू देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता' सन् 1891 में प्रकाशित हुआ।"

यदि हम हिन्दी गद्य के अन्यतम निर्माता पण्डित बाल कृष्ण भट्ट के साहित्य का अध्ययन करें और उनके द्वारा सम्पादित मासिक पत्र "हिन्दी प्रदीप" की फाइल को उलट कर देखें तो विद्वान आलोचकों का प्रथम उपन्यास सम्बन्धी निकाला गया उपर्युक्त निष्कर्ष गलत और तथ्यहीन-सा दिखाई पड़ता है। दुर्भाग्यवश पण्डित बालकृष्ण भट्ट की रचनाएँ काल के अन्धकार में इतनी लुप्त हो गई थीं कि उनका पता लगाना बड़ा कठिन हो गया। जिस प्रकार भट्ट जी के जीवन के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा अब तक नहीं बन पाई है उसी प्रकार उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद रहा है। मेरी समझ से इसका एकमात्र कारण "हिन्दी प्रदीप" की दुर्लभता है।

भट्ट जी की कृतियाँ, चाहे नाटक हो या उपन्यास, सबके विषय में हिन्दी

आलोचक आरम्भ से ही भ्रम में रहे हैं। मैं भट्ट जी के नाटकों के विषय में, विद्वानों में फैले हुए भ्रम का निवारण, भविष्य में करने का प्रयत्न करूँगा। जहाँ तक उपन्यासों का प्रश्न है हिन्दी के विद्वान आज मुख्य रूप से भट्ट जी के दो ही उपन्यास मानते हैं, जब कि भट्ट जी के कुछ उपन्यास और भी हैं जो "हिन्दी प्रदीप" में प्रकाशित हुए हैं। इस प्रसंग में भट्ट जी के उपन्यासों के नाम दे देना मैं आवश्यक समझता हूँ। भट्ट जी के कुल मिलाकर 8 उपन्यास हैं जो निम्नलिखित हैं :—

1—रहस्य कथा उपन्यास	हिन्दी-प्रदीप	नवम्बर 1879 पृ० 6 से धारावाहिक आरम्भ
2. गुप्त बैरी उपन्यास	,, ,,	जून 1882 पृ० 6 से आरम्भ
3. उचित दक्षिणा उपन्यास	,, ,,	दिसम्बर 1884 पृ० 1-10 ,,
4. हमारी घड़ी उपन्यास	,, ,,	अप्रैल, मई, जून 1892, पृ० 19 ,,
5. रसातल यात्रा उपन्यास	,, ,,	,, ,, ,, पृ० 38 ,,
6. सद्भाव का अभाव उपन्यास	,, ,,	फरवरी 1889 पृ० 22 ,,
7. नूतन ब्रह्मचारी	(प्रकाशित पुस्तकाकार उपलब्ध)	
8. सौ अजान एक सुजान	(प्रकाशित पुस्तकाकार उपलब्ध)	

उक्त 8 उपन्यासों में से अन्तिम दो उपन्यासों से ही आज हिन्दी-संसार परिचित है। शेष अन्य उपन्यास जो 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुए हैं उनसे सभी अनभिज्ञ हैं।

इस प्रकार इन उपर्युक्त बातों को देखते हुए मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वस्तुतः भट्ट जी के उपन्यास साहित्य के विषय में हिन्दी आलोचक बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। जहाँ तक नाटकों का प्रश्न है, भारतेन्दु युग में भारतेन्दु के बाद सबसे अधिक नाटक लिखने वालों में भट्ट जी प्रथम हैं। विगत कई वर्षों से यह दुर्भाग्य का विषय रहा है कि हिन्दी के किसी विद्वान ने भट्ट जी के वास्तविक ग्रन्थों की सूची नहीं दी। डा० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा ही एक ऐसे प्रथम लेखक हुए, जिन्होंने भट्ट जी के जीवन और साहित्य पर स्वतन्त्र रूप से और बहुत कुछ प्रामाणिक रूप से कुछ कार्य प्रस्तुत किया। शर्मा जी ने बहुत से नाटकों, उपन्यासों का उल्लेख अपने ग्रन्थ "पण्डित बालकृष्ण भट्ट : जीवनी और साहित्य" में किया है। पर भट्ट जी के समग्र साहित्य को प्रस्तुत करने में

वे भी विफल रह गये हैं। क्योंकि शर्मा जी ने केवल उन्हीं नाटकों और प्रहसनों आदि का उल्लेख किया है जो "हिन्दी प्रदीप" की 33 वर्ष की फाइल में बिखरे पड़े हैं। इनके अतिरिक्त भट्ट जी की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जो तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं जो इन पंक्तियों के लेखक के पास सुरक्षित हैं। भट्ट जी के उपन्यासों की ऊपर दी हुई सूची में "सद्भाव का अभाव" शीर्षक उपन्यास का उल्लेख डा० शर्मा जी ने भी नहीं किया है—यह प्रस्तुत निबंध लेखक की नवीन उपलब्धि है।

यदि हम सन् 1879 के नवम्बर मास की "हिन्दी प्रदीप" पत्रिका की फाइल देखें तो स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दी का प्रथम उपन्यास "रहस्य कथा उपन्यास" है। इस उपन्यास का धारावाहिक प्रकाशन नवम्बर 1879 में प्रारम्भ हुआ और स्मरण रहे कि इसके लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट थे। स्मरण रखना चाहिए कि लाला श्रीनिवासदास का "परीक्षा गुरु" सन् 1882 में प्रकाशित हुआ। उपन्यास लेखन शैली का आरम्भ सन् 1879 में भट्ट जी की लेखनी से हुआ। फलतः तिथि की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार का गौरव भी पण्डित बालकृष्ण भट्ट को प्राप्त है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के लिये यह बड़े खेद और दुर्भाग्य का विषय है कि उक्त उपन्यास अधूरा ही प्राप्त है। कुछ परिस्थिति और कारणवश भट्ट जी की इच्छा होते हुए भी यह उपन्यास पूर्ण न हो सका। नवम्बर 1879 से कुछ समय तक धारावाहिक निकलता रहा पर अगस्त 1881 तक प्रकाशित होकर अचानक इसका प्रकाशन बन्द हो गया और फिर मई सन् 1882 में "हिन्दी प्रदीप" में भट्ट जी ने कुछ अंश पुनः लिखा और पाठकों को आश्वासन देते हुए नीचे लिखा था कि, "किसी कारणवश इस किस्से को छापना इतने दिनों से बन्द था अब इसे फिर शुरू करते हैं, हमारे पाठकों को चाहिए कि इसकी पुरानी शृंखला मिलाकर तब पढ़ें।" पर यह आश्वासन भट्ट जी का आश्वासन मात्र ही रहा। मई 1882 के पृष्ठ 23–24 (हिन्दी प्रदीप) के बाद फिर कभी "रहस्य कथा" के आगे का अङ्क देखने को नहीं मिला। इस प्रकार यह उपन्यास अधूरा ही रह गया और काल के अन्धकार में लुप्त हो गया। फलतः "परीक्षा गुरु" हिन्दी का प्रथम उपन्यास मान लिया गया।

"रहस्य कथा उपन्यास" की कथा बड़ी मनोरंजक है। यदि इस उपन्यास

को भट्ट जी ने पूर्ण कर दिया होता तो वस्तुतः यह हिन्दी उपन्यास साहित्य का एक बेजोड़ उपन्यास होता। इसकी जितनी भी कथा उपलब्ध है उसे देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि कथा के विकास और मनोरंजन की दृष्टि से यह एक अपूर्व उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रकाशन हिन्दी प्रदीप की संचिकाओं में धारावाहिक रूप में इस प्रकार मिलता है—

1.	नवम्बर 1879	हिन्दी-प्रदीप	पृ० 6-12
2.	दिसम्बर 1879	,, ,,	,, 7-12
3.	जनवरी 1880	,, ,,	,, 5-8
4.	फरवरी 1880	,, ,,	,, 19-20
4.	मई 1880	,, ,,	,, 10-19
6.	जून 1880	,, ,,	,, 19-21
7.	अगस्त 1880	,, ,,	,, 3-6
8.	दिसम्बर 1880	,, ,,	,, 17-21
9.	जनवरी 1881	,, ,,	,, 20-23
10.	अप्रैल 1881	,, ,,	,, 21-25
11.	अगस्त 1881	,, ,,	,, 12-15
12.	मई 1882	,, ,,	,, 23-24

कथानक :

"रहस्य कथा उपन्यास" जितना प्राप्त है उसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है। "अवध में सोनपुर की बड़ी जागीर है, मूल पुरुष जागीर का ठाकुर सोहन सिंह बड़े दबदबे वाला आदमी था। अब इस जागीर के दो हिस्से वृषभानु सिंह और भानुमान सिंह रह गये। वृषभानु सिंह के दो लड़के धनुषधारी और तिलकधारी हुए। धनुषधारी बड़ा था पर बचपन से ही नटखट, चंचल और ढीठ था। तिलकधारी शान्त और गम्भीर था। वृषभानुसिंह ने दोनों को पढ़ने के लिए लखनऊ कालेज में भरती करा दिया। धनुषधारी पहले से ही आवारा था, मित्रता और सोहबत में पड़कर बुरी-बुरी आदतों में लग गया। पढ़ना-लिखना तो दूर रहा, वह अपनी बुरी आदतों से अपने को तो बिगाड़ता ही, दूसरों को भी बर्बाद करता था। पढ़ना उससे कोसों दूर की बात थी। पर तिलकधारी बड़ा सौम्य, शिष्ट और गम्भीर था। खूब मन लगा कर अध्ययन करता और अच्छे अंकों से परीक्षा उत्तीर्ण करता जाता। एक

दिन शिवरात्रि पर शीतकण्ठेश्वर के मेले में तिलकधारी गया वहाँ पर गुनवती नाम की सुन्दरी युवती की भीड़ में दबते समय उसने रक्षा की और अर्धनग्न अवस्था में भीड़ से निकालकर उसे सकुशल घर तक पहुँचाया। गुनवती के पिता केशरी सिंह बूढ़े सरकारी पेन्शनर उससे बहुत खुश हुए और अपनी पुत्री के योग्य वर समझ उसे बहुत प्रेम करने लगे। इसी तरह एक वर्ष व्यतीत हो जाता है और गुनवती तथा तिलकधारी का प्रेम बढ़ता जाता है। एक दिन एकाएक तिलकधारी को अपने मृत्यु काल का समाचार प्राप्त होता है और उसने रोते-रोते, सान्त्वना देकर कि वह जल्दी ही गुनवती से शादी कर लेगा विदा ली। एक महीने बाद गुनवती के पास उसने पत्र लिखा कि पिताजी के व्यापार के कार्यवश वह चीन जा रहा है, दो वर्ष बाद चीन से लौट कर वादा पूरा करेगा। दिन धीरे-धीरे बीतने लगे। एक दिन समाचार मिला कि चीन जाने वाले जहाज में आग लग गई जिससे सब यात्री मर गये। यह सुन गुनवती और उसके पिता केशर सिंह बहुत दुखी हुए। दुर्भाग्यवश कुछ दिन बाद गुनवती के घर आग लग जाने के कारण वह बेघरबार हो गई। उसका बूढ़ा पिता लाचार हो गया तभी प्रमदा जो एक बाल विधवा, पर बड़ी दुष्ट और बद-चलन औरत थी और केशरी सिंह के दूर के रिश्ते में कुछ लगती थी जिसे गुनवती मौसी कहती, केशरी सिंह को समझा बुझा कर अपने यहाँ ले गई। एक सुन्दरी युवती देख उसकी लार टपक पड़ी थी। केशरी सिंह को अपने जीवन पर भरोसा न था। वह जल्दी से जल्दी अपनी बेटी का हाथ पीला कर देना चाहते थे। इधर तिलकधारी के पिता वृषभानु सिंह की मृत्यु हो गई। चाचा भानुमान सिंह की भी पत्नी मर गई और भानुमान सिंह अपनी दूसरी शादी की फिराक में पड़ गये। प्रमदा को यह अच्छा मौका मिला वह पहले से ही भानुमान सिंह के यहाँ रात में जाया करती थी और रुपया ऐंठ कर आती तथा ऐश करती। अब भानुमान सिंह से काफी रकम लेकर गुनवती के पिता को बहकाकर उसने गुनवती, जिसकी उम्र करीब १८ वर्ष की थी, की शादी ५० वर्ष के भानुमान सिंह से करा दी। बूढ़े पिता ने भी पुत्री की शादी कर सन्तोष की साँस ली और इधर प्रमदा का भी काम बना। कुछ वर्ष बाद तिलकधारी जो वस्तुतः मरा नहीं था, घर पहुँचा तो यह परिवर्त्तन देख स्तब्ध रह गया, पर सब स्थिति वह क्षण भर में समझ गया। अपने को सम्हाल कर गुनवती को चाची कहकर दण्डवत किया। धनुषधारी जो अब तक अपने को चाचा और पिता की सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी समझता था,

तिलकधारी के आ जाने से बड़ा स्तब्ध हो गया और हर वक्त इसे अपने रास्ते का काँटा समझ हटाने का प्रयत्न करता था। तिलकधारी के विरुद्ध चाचा का कान भरना उसने शुरू कर दिया। एक दिन गुनवती से तिलकधारी कुछ बात कर रहा था। मौका पाकर धनुषधारी चाचा भानुमान सिंह को बुला लाया और छोटे भाई के ऊपर भ्रष्टाचार का लांछन लगाते हुए गालियाँ देने लगा। चाचा ने बिना कुछ सुने तिलकधारी को धक्के देकर घर से निकाल दिया। प्रमदा ने, जो स्वयं भानुमान सिंह की रखैल थी, धनुषधारी से मिली हुई थी और दोनों को ऐंठती थी, जाकर गुनवती को धक्के देकर बाहर निकाल दिया। तिलकधारी घर छोड़कर कहीं दूर चला गया और गुनवती का भी कुछ पता न लगा। जब चाचा का गुस्सा शान्त हुआ तो वे गुनवती की संदूक की तलाशी लेने लगे और उसमें एक पत्र मिला उसे पढ़ने के बाद सही बात का उन्हें पता लगा तब उनकी आँख खुल गई। रात्रि का समय था। गुनवती और तिलकधारी की तलाश में रोते-चिल्लाते निकल पड़े। इधर धनुषधारी के कुछ आदमियों ने जाकर पीछे से उनकी हत्या कर दी। सुबह उनकी लाश मोहनपुर लाई गई। तिलकधारी पर सारा दोष देते हुए धनुषधारी ने रोना-चिल्लाना शुरू किया। अंतिम कर्म करके धनुषधारी पूरे जागीर का मालिक हो गया। वह अपने मद में चूर खूब अन्याय और भ्रष्टाचार करता। प्रमदा ने धनुषधारी को अपने पंजे में फँसा लिया। ....उपन्यास की कहानी यहीं तक आकर रुक जाती है और आगे नहीं मिलती।

'रहस्य कथा उपन्यास' चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास का नायक तिलकधारी एक सौम्य शिष्ट और गम्भीर तथा संयमी युवक है। नायिका गुनवती एक सुन्दरी युवती है जो दुर्भाग्य की मारी है और हिन्दू समाज की बेजोड़ (बेमेल) विवाह की कुरीति की शिकार है। प्रमदा का चित्रण भट्ट जी ने बड़ी कुशलता से किया है। वह बाल विवाह के कुपरिणाम का ज्वलंत उदाहरण है। केशरी सिंह की वृद्धावस्था की निरीहता का बड़ा सजीव चित्र भट्टजी ने चित्रित किया है। पचास वर्षीय भानुमान सिंह जमींदार वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी हवस और वासना मृत्यु तक नहीं बुझती। खल नायक धनुषधारी एक पतनोन्मुख युवक है।

इस प्रकार समष्टि रूप से रहस्य कथा उपन्यास एक मनोरंजक सामाजिक उपन्यास है। इसमें भट्ट जी ने समाज की कुरीतियों का पर्दाफाश करके समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। बाल विवाह, बेमेल विवाह आदि का

चित्रण बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। इस उपन्यास का वस्तु-संगठन सुधारात्मक है। जिस रूप में कहानी का प्रवाह है उससे स्पष्ट होता है कि कहानी का खलनायक धनुषधारी बाद में अपने पाप का फल अवश्य भोगेगा और प्रमदा का भी अंत होगा तथा तिलकधारी की विजय होगी। मुख्य रूप से कहानी का उद्देश्य "होनहार बीरवान के होत चीकने पात" है। भट्ट जी ने समाज का जैसा सुन्दर चित्रण अपने प्रस्तुत उपन्यास (हिन्दी के प्रथम उपन्यास में ही) में प्रस्तुत किया है यह बहुत यथार्थ और आदर्शोन्मुख है, जो तत्कालीन किसी भी लेखक में मिलना मुश्किल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट जी ही हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रथम लेखक हैं, जिन्होंने हिन्दी में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की स्थापना की जिस पर आगे चलकर उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द ने कई श्रेष्ठ और प्रसिद्ध उपन्यासों की रचना की। प्रेमचन्द को मैं भट्ट जी की ही परम्परा का उपन्यास-कार मानता हूँ क्योंकि हर दृष्टि से प्रेमचन्द जी भट्ट जी के उत्तराधिकारी दिखाई पड़ते हैं। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है प्रेमचन्द जी सीधे-सीधे "भट्ट स्कूल" के लेखक हैं। भट्ट जी की भाषा के सम्बन्ध में यह मान्यता थी कि "हिन्दी में ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि वह अन्य भाषाओं के शब्दों को हड़प जाए और अन्य भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में आकर हिन्दी से हो जायँ। हिन्दी में मिले हुए किसी भी भाषा के शब्द का बहिष्कार न करना चाहिए। केवल संस्कृत निष्ठ शब्दों को रखकर भाषा को क्लिष्ट करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।" स्मरण रहे कि यही भाषा आज राष्ट्र भाषा पद पर सुशोभित है, यद्यपि उस समय काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कोश विभाग के सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास और सरस्वती के सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे संस्कृत निष्ठ और व्याकरण सम्मत करके क्लिष्ट करने का प्रयत्न किया था। डा० श्यामसुन्दर दास को तो यह गर्व था कि उनकी भाषा में जितने उर्दू के शब्द कोई निकाल दे उतने पाँच रुपये वो उसे देंगे पर उनका यह गर्व हिन्दी के विकास में किसी भी तरह सहायक न हुआ। अंत में उसी भाषा को मान्यता प्राप्त हुई जिसकी कल्पना भट्टजी और उनके 'स्कूल' के लेखकों ने की थी। भट्ट जी की इस उपन्यास में भी भाषा उर्दू, फ़ारसी के शब्दों से पूर्ण है जैसी आगे चलकर हमें मुंशी प्रेमचन्द में भी मिलती हैं।

"रहस्य कथा उपन्यास" में जहाँ एक और उर्दू फारसी तथा अंग्रेजी आदि के शब्दों का प्रयोग हुआ है वहीं दूसरी ओर भट्ट जी की भाषा में संस्कृत निष्ठ शब्दों और अलंकारिक वाक्यों से उपन्यास की छटा और बढ़ गई है। गुनवती की सुन्दरता के वर्णन में अलंकारों की भरमार है, पर उपन्यास की शृंखला कहीं भी टूटने नहीं पाई है। इस प्रकार "रहस्य कथा" भट्ट जी का एक प्रमुख एवं सामाजिक उपन्यास है। "रहस्य कथा" हिन्दी का प्रथम उपन्यास होते हुए भी भाषा, शैली और वस्तु संगठन आदि की दृष्टि से एक सफल साहित्यिक उपन्यास है।

वीरेन्द्र सिंह

*

सूफी मत के प्रमुख साधनापरक प्रतीक और जायसी

सूफी काव्यके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूफी कवियों के कथा-प्रसंग में अनेक सूफी मान्यताओं एवं धारणाओं पर आश्रित प्रतीकों का प्रयोग किया है। स्वतंत्र रूप में, कुछ सूफी प्रतीकों का प्रयोग अखरावट में भी प्राप्त होता है। सूफी प्रतीकों की पृष्ठभूमि वैसे तो इस्लाम धर्म ही है, तुरंत अधिकांशतः ये कवि उदार मनोवृत्ति के थे ; इसी से उनके प्रतीकों में भारतीय विचारधारा और इस्लामी (सूफी) मान्यताओं का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। दूसरी ओर, इन कवियों को इस्लाम धर्म तथा कट्टर कुरानपंथी व्यक्तियों की रुढ़िवादिता और कट्टरता के प्रति अप्रत्यक्ष विद्रोह भी करना था, इस कार्य के लिए उन्हें अपने प्रतीकों से ही सहारा मिला। वे कट्टर कुरानपंथियों से खुलकर विद्रोह नहीं कर सकते थे, और इसी कारण उन्होंने गुह्य एवं गुप्त बातों का संकेत प्रतीक-शैली के द्वारा व्यक्त किया। इस "प्रतीकवाद" ने कुरानपंथियों को यह प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानने दिया कि यह 'विद्रोह' उन्हीं के प्रति है। यही बात हमें संतों में भी प्राप्त होती है, जिन्होंने रुढ़ियों तथा अंधविश्वासों के प्रति अपने प्रतीको के द्वारा विद्रोह किया।

सूफी प्रतीकों की आधारभूमि प्रतिबिंबवाद एवं इस्लामी एकेश्वरवाद है। इसके अतिरिक्त इनके प्रतीकों में वेदांत दर्शन का भी प्रभाव लक्षित होता है। यही कारण है कि उनके प्रतीक समन्वयात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। कुछ उनके ऐसे साधनापरक प्रतीक हैं जो निजी उनके हैं, पर उनका कोई न कोई रूप भारतीय दर्शन में भी प्राप्त होता है यथा मुक़ामात, अवस्थायें, अल्लाह की धारणा, कुन, फना आदि। इस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। दूसरे प्रकार के प्रतीक शुद्ध इस्लामी या सूफी हैं जिनका सीधा सम्बन्ध ईरान आदि देशों से है जैसे नूर, साक़ी, शराब, प्याला आदि। सूफियों के ये दोनों वर्गों के प्रतीक

एक प्रकार से सूफी धर्म के मूल तत्वों एवं तात्विक संदर्भों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सूफियों का सबसे प्रमुख सिद्धांत जिस पर उनके अधिकांश प्रतीक आश्रित हैं, वह 'प्रतिबिम्बवाद' है। सूफियों के अनुसार मानव के चार विभाग हैं जिन-पर सूफी साधना का प्रासाद निर्मित हुआ है—वे हैं नफ्स (विषयभोग), रूह (आत्मा), क़ल्ब (हृदय) और अक्ल (बुद्धि)। रूह के लिये क़ल्ब एक दर्पण है जिस पर कि उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः रूह (आत्मा) का स्वच्छ होना ही मानो वह दर्पण है जिसमें 'ईश्वर' का प्रतिबिंब भासित होता है। दूसरी ओर साधक का साध्य तत्त्व तो जगत से परे है, तब वह 'उसकी' अनुभूति कैसे प्राप्त करे ? यह अनुभूति वह 'ईश्वर' के प्रतिबिंब से प्राप्त करता है जिसका बिंब इस सम्पूर्ण चराचर जगत पर पड़ता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि दर्शन के क्षेत्र में जो 'प्रतिबिंबवाद' है, वही भावना के क्षेत्र में आकर 'प्रतीक' हो जाता है। दूसरे शब्दों में यही सर्वात्मवाद है जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड में एक परम तत्त्व को व्याप्त देखता है।[1] यही उपनिषदों में अद्वैत दर्शन है जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥[2]

अर्थात् जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है और समस्त भूतों में ही आत्मा को देखता है वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता है। अतः परमतत्त्व "अल्लाह" ब्रह्म से परे भी है और उसके साथ भी है; कुरान और सूफ़ी—दोनों विचारधाराओं में ईश्वर की जगल्लीनता (Immanence) का समान महत्त्व है।[3] जब हम एकेश्वरवाद का विश्लेषण करते हैं तो उसमें भी यही धारणा व्याप्त पाते हैं कि एक सबसे महान् देवता, जो सृष्टि का पालन व संहार करता है, वही सृष्टि का विस्तार 'शून्य' से करता है। अतः, यदि एकेश्वरवाद में 'ईश्वर' जगत से "पृथक" है तो प्रतिबिंबवाद में "वह" जगत से "परे" है औरउसमें व्याप्त भी है। दोनों सिद्धांतो में ईश्वर की सर्वशक्ति-

1 सूफी काव्य संग्रह, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 20

2 ईशावास्योपनिषद, पृ० 29 श्लोक 6 (उपनिषद् भाष्य खंड 1)

3 स्पडीज़ इन तसव्वुफ, खाजा खाँन, पृ० 17

सत्ता का समान संकेत प्राप्त होता है। मेरे विचार से सूफी काव्य के अधिकांश प्रतीक इन दोनों सिद्धांतों के समन्वय पर आश्रित हैं; और यही कारण है कि सूफी प्रतीकों में भारतीय अद्वैतवादी दर्शन का भी तिल-तंदुल रूप प्राप्त होता है। सामान्यतः, सूफी विचारधारा एक सृजनात्मक शक्ति या 'धत्' में विश्वास करती है जो 'हक' का रूप है। यही 'हक' सम्पूर्ण (सत्य), संसार का आधार है। ब्रह्म की सृजनात्मक शक्ति 'माया' के द्वारा व्यंजित होती है तो सूफियों के 'हक' की शक्ति यही 'धत्' जिसके द्वारा परमतत्त्व अपना विस्तार करता है। यही उपनिषदोक्त ब्रह्म रूप ओ३म् का मिथुन रूप है, वहां कहा गया है—

"तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सँसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्।"[4]

अर्थात् वह यह मिथुन रूप ब्रह्म ओ३म् इस अक्षर से संसृष्ट होता है। जिस समय मिथुन के अवयव मिलते हैं, उस समय वे एक दूसरे की कामनाओं को प्राप्त कराने वाले होते हैं।

अतः सूफियों का प्रतिबिंबवाद, एकेश्वरवाद, सर्वात्मवाद—सभी सिद्धांत मूलतः अद्वैत भावना पर ही आश्रित हैं और यही कारण है सूफियों का रहस्यवाद इन सबकी मिली जुली अभिव्यक्ति है जिसमें अद्वैत भावना की प्रमुखता किसी न किसी रूप में प्राप्त होती है। सूफियों के रहस्यवादी प्रतीक इस तथ्य की अभिव्यंजना प्रस्तुत करते हैं। इसी अद्वैत दर्शन की आधारभूमि पर ब्रह्म, जीव और जगत की एकता प्रतिपादित की जाती है जिसमें सूफी कवियों ने 'प्रेम-पंथ' की धारा का सुन्दर समन्वय किया है। इसमें ईरानी रहस्यवादी प्रवृत्ति का भी योग प्राप्त होता है। इसका फल यह हुआ कि सूफी काव्य में जहाँ एक ओर आत्मा का परमात्मा में एकीभूत होना परम ध्येय है, वहीं 'उस' तक पहुँचने के लिये मुकामों तथा अवस्थाओं की भी योजना है। प्रेमभाव की प्रगाढ़ अनुभूति के कारण इस रहस्यवादी परम्परा में सूफी साकी, शराब और प्याले का भी समुचित स्थान है। सूफी काव्य की सबसे बड़ी विशेषता इसी तथ्य में समाहित है कि उन्होंने अपने प्रतीकों को उदात्त एवं उदार (Liberal) भूमि पर इस प्रकार सँजोया है कि वे भारतीय परम्परा में एकमेक हो जाए

---

4 छांदोग्योपनिषद्,पृ० 39, श्लोक 6, अध्याय 1, खंड 1 (उपनिषद भाष्य-खंड 3)

जिससे भारतीय दर्शन एक व्यापक क्षेत्र को अपने अन्दर समेट सके जो दर्शन की मुख्य प्रवृत्ति मानी जाती है।

सूफी प्रतीकों की उपर्युक्त पृष्ठभूमि के प्रकाश में, विवेचन की सुविधा के लिये हम उन्हें दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक साधनात्मक प्रतीक योजना जिनमें भारतीय दर्शन का भी पुट मिलता है और दूसरे शुद्ध भावात्मक प्रतीक जो फ़ारस और ईरान की परम्परा से सीधे गृहीत हुए हैं जैसे साकी, शराब। ये दोनों वर्ग सूफी प्रतीकों के मुख्य प्रतीकीकरण प्रवृत्ति के द्योतक हैं जिनकी परम्परा हिंदी काव्य तथा उर्दू काव्य में आज तक किसी न किसी रूप से चलती आ रही है।

साधनापरक प्रतीक योजना :

इन दोनों वर्गों के प्रतीकों पर विचार करने के पूर्व प्रथम जायसी द्वारा अल्लाह या परमतत्त्व के गृहीत स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है, क्योंकि अल्लाह की धारणा पर ही इन प्रतीकों का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो सकेगा। प्रत्येक धर्म में परमतत्त्व को किसी न किसी प्रतीक के द्वारा अभिव्यक्ति किया जाता है और यह प्रतीकीकरण की क्रिया मानसिक चेतना के उच्चतम विकास की परिचायिका है। यही प्रवृत्ति सूफी परमतत्त्व "अल्लाह" (खुदा) के बारे में भी सत्य है। जायसी ने अल्लाह की भावना में इस्लामी एकेश्वरवाद, प्रतिबिंबवाद तथा अद्वैतवाद का समन्वय किया है जिस पर प्रथम ही विश्लेषण हो चुका है। जायसी ने भी उसे सृष्टिकर्त्ता माना है एक परम आदि तत्त्व के रूप में—

> गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहि सूर।
> ऐसे अंधकूप मँह रचा मोहम्मद नूर ॥[5]

यहां पर मोहम्मद परमतत्त्व का 'नूर' है जिस प्रकार ब्रह्म का व्यक्त रूप ईश्वर है जो सृष्टि कार्य सम्पन्न करता है। अतः परमतत्त्व में शून्य (अंधकूप) से ही अपने 'नूर' का सृजन किया जो सृष्टि-कार्य सम्पन्न करता है। अनादितत्त्व के न पिता हैं और न माता, वह आप ही सब कुछ है और 'आप' ही अकेला है। वह ऐसा सृष्टिकर्त्ता है जिसका न रूप है और न वर्ण—वही सबका मूल है।[6]

---

5 जायसी ग्रंथावली, अखरावट, पृ० 343 सं० रामचंद्र शुक्ल।

6 जायसी ग्रन्थावली, पृ० 3 तथा पृ० 106

इसी धारणा की प्रतिध्वनि नूर मोहम्मद में भी प्राप्त होती है जब वह कहता है—

आपु गुपुत औ परगट, आप आदि औ अन्त।
आपु सुनै औ देखै, कीन्ह मनुप बुधवन्त ॥[7]

इसी प्रकार यह जग 'करता की फुलवारी भी है"[8] जिसके द्वारा यह व्यंजित होता है कि यह समस्त चराचर विश्व उसी की रचना है। इसी कर्त्ता ने मोहम्मद को जन्म दिया और अपने अंश रूप में उसे अवतीर्ण किया—

करता तोहि मोहम्मद कीन्हा।
आप सुभाग अंस तेहि दीन्हा ॥[9]

यही नारायण का अंशों के सहित रूप है जिसके सहित वह अवतार धारण करते हैं। परन्तु सूफियों में अवतार की भावना का अभाव है।

अस्तु, अल्लाह की धारणा में जायसी ने भी एकेश्वरवाद, सर्वात्मवाद एवं अद्वैतवाद के समन्वित रूप की प्रतिष्ठा की है। परन्तु इस्लाम में अल्लाह के भयपरक रूप की प्रधानता प्राप्त होती है जबकि जायसी ने उसे प्रेमपरक रूप में ग्रहण किया है और उसे निकटतम 'प्रिय' की कोटि तक पहुँचा दिया है। सूफी कवियों का परमतत्त्व रूप, उन्हीं के शब्दों में, आन्तरिक 'सत्य' या धत् और बाह्य सत्य या शिफत् (खलक भी) का समन्वित रूप है। यही 'धत्' ही शिफत में परिणत होता है और बाह्य सृष्टि करता है। यह परमतत्त्व रूप 'अलिफ' वर्ण के प्रतीकार्थ की ओर भी संकेत करता है। जो उपनिषदों की 'ओ३म्' धारण से भी मिलता है। 'अलिफ' अरबी के 28 वर्णों में हरेक वर्ग में प्राप्त होता है चाहे वे सीधे हों या वक्र आकृति के। इसका अर्थ यही है 'सत्य-अस्तित्व' की व्याप्ति व्यक्त और अव्यक्त दोनों में समान रूप से प्राप्त होती है जिस प्रकार 'अलिफ' की व्याप्ति सीधे (व्यक्त) और वक्र (अव्यक्त) दोनों वर्णों में समान रूप से प्राप्त होती है।[10] यही 'अलिफ वर्ण' सृष्टि का परम आदि स्रोत है और साथ, उसकी निलय का भी।

---

7 इन्द्रावती द्वारा नूर मोहम्मद, सं० श्यामसुन्दर दास, स्तुति खण्ड, पृ० 1
8 वही, फुलवारी खण्ड; पृ० 54
9 वही, नहान खण्ड, पृ० 79 तथा स्तुति खण्ड पृ० 2
10 स्टडीज इन तसव्वुफ, खाजा खाँन, पृ० 68

इस तात्विक रूप की पृष्ठभूमि में जायसी ने प्रतिबिम्बवाद का समावेश किया है और इस सम्पूर्ण सृष्टि में परमतत्त्व का प्रतिबिम्ब माना है। इस धारणा पर आश्रित प्रतीकों का प्रयोग मूलतः सूफी कवियों ने यदा-कदा किया है। एक प्रेम प्रसंग के संदर्भ का उदाहरण लीजिये—

जानहुँ आहि दरपन मोर हीया।
तेहि महँ दरस दिखावै पीया ।।[11]

इस प्रकार जायसी ने प्रतिबिम्बवाद की काव्यात्मक अभिव्यक्ति पानी भरी गगरियों और उनमें समान रूप से सूर्य के प्रतिबिम्ब पड़ने के प्रतीकात्मक दृष्टान्त से 'ब्रह्म' की सर्वव्यापकता की सुन्दर व्यंजना करते हैं—

गगरी सहस पचास जौ कोउ पानी भरि धरे।
सुरुज दीपै अकास, मोहम्मद सब महँ देखिये ।।[12]

संक्षेप में जायसी के काव्य का 'परमतत्त्व रूप' यही है जिसकी आधार शिला पर उन्होंने अपनी प्रेम व्यंजना अनेक प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट की है और आगे की साधनात्मक प्रतीक योजना का जो विवेचन होगा उसका ध्येय ऐसे ही 'परमतत्त्व' का साक्षात्कार कराना है।

(क) **संख्यावाचक प्रतीक योजना**

सूफी साधना से सम्बन्धित इन प्रतीकों का एक विशेष स्थान सूफी धर्म तथा साहित्य में रहा है। ये प्रतीक मूलतः परमतत्त्व के साक्षात्कार हेतु माध्यम रूप से मान्य हैं जिनकी आधारशिला पर साधक (मोमिन) अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास करता है। इन अधिकांश प्रतीकों में भारतीय साधना विधि की भी झलक मिल जाती है जिन्हें हम पर्यायवाची ही कह सकते हैं। इन प्रतीकों के साथ कहीं-कहीं पर योग-प्रतीकों तथा क्रियाओं का भी सम्मिश्रण प्राप्त होता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि सूफी कवियों का ध्येय दोनों मान्यताओं के समन्वय की ओर भी था।

सूफी साधना में साधक को अपने साध्य तक पहुँचने के लिये कुछ विशिष्ट दशाओं, अवस्थाओं और मुकामातों से गुजरना पड़ता है, इस "यात्रा" में उसे अनेक बाधाओं एवं संकटों का सामना करना पड़ता है, तब कहीं साध्य की

---

11 जायसी ग्रन्थावली, लक्ष्मी समुद्र खण्ड, पृ० 202
12 वही, अखरावट, पृ० 374

अनुभूति होती है इसे हम अँग्रेज़ी शब्दावली में "पिलग्रिम्स प्रोग्रेस" (Pilgrim's progress) की संज्ञा दे सकते हैं। सूफी विचार-धारा में साधक की इसी प्रगति का क्रमिक रूप उनके मुकामात और अवस्थाएँ हैं जिनके द्वारा उसके आध्यात्मिक एवं मानसिक प्रगति की रूपरेखा भी स्पष्ट होती है।

चार अवस्थायें तथा सात मुकामात

सूफियों में सात मुकामों का बहुत महत्त्व है जिनसे साधक अपने साध्य तत्त्व की ओर क्रमशः अग्रसर होता है। यदि प्रतीकात्मक दृष्टि से कहा जाय तो ये मुकामात साधक की विभिन्न ऊर्ध्वगामी मानसिक स्थितियाँ हैं जो उसकी चेतना के ऊर्ध्व आरोहण हैं। ये सात मुकामात इस प्रकार हैं—

(1) पहला मुकाम वह है जहाँ पर मोमिन शरिअत पर विश्वास करता है जो उसे सेवा भाव की ओर उन्मुख करता है। इस उन्मुखता से मोमिन एक प्रकार के 'अनुताप' का अनुभव करने लगता है। इसे 'उब्दियत' की संज्ञा भी दी गई है।

(2) इस मुकाम के बाद इश्क या प्रेम का स्थान है जो साधक को आत्म ज्योति या संयम का वरदान देता है।

(3) जब मन में प्रेम का प्रकाश हो गया तब साधक संसार के बाह्य बन्धनों को त्याग कर, वैराग्य की उच्च दशा का अनुभव करता है जिसे सूफी शब्दावली में "ज़ुहद" कहते हैं।

(4) वैराग्य की किरण से ज्ञान का परम प्रकाश उत्पन्न होता है जो व्यक्ति को मनोनिग्रह की 'स्थितप्रज्ञ' दशा तक ले जाता है। यह अन्तःकरण का आह्लादकारी जीवन है जो अपने को उन समस्त वस्तुओं से खींच लेता है जो 'परमतत्त्व' के साक्षात्कार में बाधक स्वरूप होते हैं। यही मारिफ़त की दशा है। यह ज्ञान एकांत चिंतन के द्वारा प्राप्त होता है, इसी से इस मुकाम को 'ज़ुहद' के बाद रखा गया है।

(5) ईश्वरीय ज्ञान का अनुभव हो जाने के बाद साधक का मन आनंद की मधुरिमा से परिव्याप्त हो जाता है। इसे वज्द का नाम दिया गया है।

(6) आनंदानुभूति के बाद ही या उसके साथ ही 'सत्य' का ज्ञान हो जाता है, इसे सूफी शब्दावली में 'हकीकत" कहा गया है। हक या सत्य की यह अनुभूति प्राप्त करना ही मोमिन का परम लक्ष्य होता है।

(7) इस अंतिम उच्चतम मुकाम में आकर साधक परमात्मा से अभेद-

दृष्टि की अनुभूति प्राप्त करता है जिसे "वस्ल" की संज्ञा दी गई है। इस परम एकात्म भाव या अद्वैत दृष्टि को "फना" की अवस्था भी कहा गया है। फना की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि जहाँ पर साधक यात्री के कार्य गुण और तत्त्व क्रमशः अद्वैत भाव की परम परिणति में परमात्मा के कार्य गुण और तत्त्व हो जाते हैं। यहाँ पर साधक कामरहित या आप्तकाम हो जाता है। उपनिषद् में मोक्ष की धारणा कुछ इसी प्रकार की है, वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—"मोक्ष काम रहित, पाप रहित और अभयरूप है। व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का; इसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिंगित होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का; वह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।[13] अतः फना और मोक्ष में मूलतः वे ही तत्त्व हैं जो समान रूप से दोनों धारणाओं में प्राप्त होते हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों का ध्येय एकात्म भाव और सर्वात्म भाव है, दोनों क्रिया, कारक और फल से रहित "आत्मकाम" की दशाएँ हैं। इन समानताओं के अतिरिक्त मोक्ष तथा फना में एक सूक्ष्म अंतर है। उपर्युक्त उपनिषद् के कथानुसार मोक्ष की स्थिति परमशांति की दशा है जहाँ समस्त इच्छाएँ, कर्म और फल आदि तिरोहित हो जाते हैं, पर फना में हर्षोन्माद का सहज उद्रेक सलिल प्रवाहिनी की तरह बहता रहता है। रहस्यवाद की दृष्टि से यही आनंदानुभूति की परमदशा है जो मोक्ष में परमशान्ति की दशा है।[14]

इन सात मुकामातों के अध्ययन से इन मुकामों के कुछ पर्याय भारतीय साधना में भी मिल जाते हैं जिनकी ओर प्रसङ्गवश संकेत कर दिया गया है। एक अन्य दृष्टि से इन मुकामातों की समानता योग प्रणाली से भी हो जाती है। योगानुसार शरीर के अन्दर सप्त खण्डों या चक्रों की जो कल्पना की गई है, उनकी समकक्षता इन मुकामातों से स्पष्ट रूप से है क्योंकि वहाँ पर भी कुंडलिनी को जागृत कर सात चक्रों या कमलों को क्रमशः भेदन कर सहस्रधार

---

13 वृहदारण्यकोपनिषद, अध्याय 4, ब्राह्मण 3, पृ० 938 (उप० भाष्य खण्ड 4)

14 सूफी मत और हिन्दी साहित्य, डा० विमलकुमार जैन, पृ० 75 (दिल्ली 1955)

कमल या आनन्द की दशा तक पहुँचता है । यही कारण है कि सूफी काव्य में इन मुक़ामों को यदा कदा चढ़ाव, बन, पर्वत तथा समुद्र नामों से अभिहित किया गया है । इन सात मुकामातों की समानता सूफियों की चार अवस्थाओं में भी है शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत कहते हैं जो क्रमशः प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की दशाएँ कही जाती हैं ।

सूफी साधकों में इस प्रकार यह यांत्रिक आरोहण एक विशिष्ट तात्त्विक दृष्टि का परिचायक है जिसमें अंतः करण की भावात्मक लहरियाँ हिलोरें लिया करती हैं । आँटो के शब्दों में कह सकते हैं कि यह यांत्रिक आरोहण ऊर्ध्व जीवन का एक नियम है—उसका एक परम रूप प्रारब्ध है ।[15] इसी यात्रा रूप जीवन को सूफी कवियों ने उपयुक्त प्रतीकों के द्वारा व्यंजित किया है । सूफी कवियों ने इन विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग कहीं-कहीं पर एक साथ भी किया है और उन्हें योग साधना की समकक्षता में रखने का प्रयत्न किया है । इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर इन संख्यावाचक प्रतीकों को स्वतंत्र रूप भी दिया गया है । ये मुकामात एवं अवस्थाएँ मूल रूप से ईरान के सूफी कवियों में भी प्राप्त होती हैं । यही नहीं, पाश्चात्य काव्य में भी इन मुकामों का अपरोक्ष रूप मिलता है । दांते के (Dante) 'डिवाइन कामेडिया' में इसका एक स्थान पर संकेत आया है । जब महाकवि दांते मार्जन प्रदेश (Purgatory) में सात स्तरों का सविस्तार वर्णन करते हैं[16] जिससे होकर कवि तथा वर्जिल स्वर्ग की ओर चढ़ते हैं, तब स्पष्ट रूप से सूफी मत के मुकामातों की समानता प्राप्त हो जाती है ।

सूफी साधना में, आध्यात्मिक प्रगति के लिए, कष्टों तथा बाधाओं की योजना एक मुख्य अंग है । इन बाधाओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति पर्वतों, नदियों, नाले आदि से की जाती है । जायसी ने एक स्थान पर स्पष्टतया इनका उल्लेख किया है—

ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई ।
तब हम कहब पुरुष भल सोई ॥
है आगे परबत के बाता ।
विषम पहार अगम सुठि घाटा ॥

---

15 मिस्टिसिज़्म—ईस्ट एंड वेस्ट, राडलफ आँटो, पृ० 157

16 कामायनी दर्शन, फतेहसिंह, पृ० 404

बिच बिच नदी खोह औं तारा।
ठवहि ठाँव बैठि बटपारा ।।[17]

साधक की 'परमपद' की यात्रा में ये पर्वत, खोह, घाट, उग आदि उस कष्टसाध्य मार्ग के प्रतीक हैं जिन्हें किसी भी आध्यात्मिक अन्वेषणशील साधक को पार करने पड़ते हैं।

जायसी और नूर मोहम्मद में सात मुकामातों का वर्णन अधिकांशतः प्रतीकात्मक रूप में ही प्राप्त होता है। 'पदुमावत' में जायसी ने रत्नसेन को सिंघलद्वीप जाते समय सात समुद्रों को पार करने का जो संकेत दिया है, वह मूलतः इन्हीं सात मुकामातों का प्रतिरूप है। यदि विश्लेषण करके देखा जाए तो कहीं-कहीं पर जायसी ने इन समुद्रों के वर्णन में भयंकरता का भी समावेश कर दिया है जो एक प्रकार से साधना पथ के कष्टसाध्य रूप का भयंकर स्वरूप है। जायसी ने इन सात समुद्रों के नाम इस प्रकार दिये हैं—खार (क्षार), खीर, दधि, जल, उदधि, सुरा और किलकिला।[18] इन सातों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है जिनमें, प्रतीकात्मक रूप भी मिलता है। उदाहरणस्वरूप दधि समुद्र का वर्णन लीजिये—

प्रेम जो दाधा धनि वह जीऊ। दधि जमाइ मथि काढै घीऊ ।।
सांस डाँडि, मन मथनी गाढ़ो। हिय चोट बिनु फूट न साढ़ो ।।[19]

दधि तीसरे मुकाम का प्रतीक है जो इश्क के बाद आता है, जहाँ पर साधक संसार के बंधनों से मुक्त हो, परमात्मा के समीप पहुँचने को होता है। यहाँ दधि का जमाकर घी का निकालना इसी सत्य की ओर संकेत करता है कि इस व्यक्त रूपराशि से ही परमज्ञान रूप 'घृत' को निकालना ही काम वासनाओं तथा अज्ञान से मुक्त होना है। बिना वैराग्य को प्राप्त किये 'सत्य ज्ञान' की अनुभूति नितांत असम्भव है। यह 'घी' सांस और मन के समुचित निरोध पर ही आश्रित है। इसी प्रकार अन्य समुद्रों का वर्णन जायसी को अभीप्ट है और अंत में सातवें 'मानसर' में आकर जीवात्मा के सम्मुख अज्ञानाधंकार का आवरण नितांत तिरोहित हो जाता है और 'परमसत्य' की

---

17 जायसी ग्रंथावली, जोगी खंड, पृ० 64
18 वही सात समुद्र खंड, पृ० 72-76
19 जायसी ग्रंथावली, सात समुद्र खंड, पृ० 72-73

ज्योति सूर्य के समान प्रकाशित होने लगती है। यही 'फना' की दशा कही गई है जहाँ सर्वात्मभाव पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है—

गा अँधियार रैनि मसि छूटी।
भा भिनसार किरन रवि फूटी ।।[20]

इस प्रकार जायसी ने जहाँ सात मुकामातों का सात समुद्रों के रूप में वर्णन किया है, वहाँ नूरमोहम्मद ने इन मुकामों को "सात बन" भी कहा है और उनका नामकरण भी किया है—

अगम पंथ मो सात बन और समुद्र अथाह।
होत न कैसहुँ मग मो, अगुआबिनु निरवाह ।।[21]

अथवा

भोर होत भा पन्थिक, साँतौं बन नियरानि।
पहिले बन में आयेउँ, देखि चित्त हेरानि ।।[22]

इन बनों को पार करने के लिये अगुआ या पथदर्शक 'गुरु' की आवश्यकता की ओर संकेत प्राप्त होता है। यह विचार संतों में भी मिलता है जो आध्यात्मिक प्रगति के लिये गुरु की महत्ता को सर्वोपरि मानते हैं। इन सात बनों का नामकरण इस प्रकार किया गया है।

(1) जंगल या बन
(2) शब्द बन
(3) सुगंध युक्त बन
(4) "फले बहुत फल देखे जहां" अर्थात् फल बन
(5) छोटे छोटे घास तथा काँटों युक्त बन

(6)-(7) बन में बसेरा; और कवि ने इन सात बनों के बाद मधुकर को देहंतपुर या परमपद के दर्शन कराए हैं।[23] विदेशी सूफी कवियों में भी इन सात मुकामातों का संकेत प्राप्त होता है। सूफी कवि अत्तार ने इन सात

---

[20] वही, सात समुद्र खंड, पृ० 76
[21] इंद्रावती द्वारा नूर मोहम्मद, स्वप्न खंड, पृ० 14
[22] इंद्रावती, जोगी खंड, पृ० 26
[23] इंद्रावती, जोगी खंड, पृ० 26-28

मुकामों को सात घाटियाँ भी कहा है।[24] इन प्रतीकों की योजना से सर्वत्र इस तथ्य का संकेत प्राप्त होता है कि सूफी साधना में, चाहे वह भारत की हो या किसी विदेशी कवि की, उन साधनाओं में जीवात्मा साधक का रुकना या आराम करना अपनी मंजिल को दूर करना ही होता है, इस ऊर्ध्वगामी प्रगति में अहर्निशि प्रयत्न की ओर सदैव मानसिक प्रवृत्तियों के उन्नयन की आवश्यकता है। इसी भाव को हाफिज़ ने अपने 'दीवान' में इस प्रकार रखा है—

"मुझे प्रियतम के मार्ग में आराम करने का क्या विश्वास है जबकि काफिला का घंटा सदैव बजता रहता है और लोगों को अपनी लाठी लादने के लिए सचेत रहना पड़ता है।"[25]

योग साधना में शरीर के अंदर जो सात चक्रों या खण्डों की मान्यता प्राप्त होती है, उनकी तुलना सूफियों के सात मुकामातों से की जा सकती है। सत्य में यह सप्तक की धारणा का परम विकास हमें उपनिषदों के महान् ज्ञान भंडार में ही प्राप्त होता है जहाँ सप्तप्राणों के व्यंजनार्थ अनेक सप्तकों की कल्पना की गई है जैसे सप्तऋषि, सप्तान्न, सप्तपाताल, सप्तस्वर, सप्तदिवस, सप्तसिंधु, सप्तलोक। इस प्रकार सप्तक की कल्पना समुद्रों और लोकों के रूप में भारतीय दर्शन में प्राप्त होती है। वृहदारण्यकोपनिषद् में सप्तप्राणों को सप्तऋषि भी कहा गया है जो मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है—"ये दोनों कान ही गौतम और भारद्वाज हैं, ये दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। ये दोनों नासारंध्र ही वशिष्ट और कश्यप हैं तथा वाक् ही अत्रि है; क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है जिसे अत्रि कहते हैं, वह निश्चिय "अत्ति" नाम वाला है। जो इस प्रकार जानता है, वह सर्वदा अत्ता (भक्षण करने वाला) होता है।[26] अतः सातों इद्रियाँ ही प्राण हैं जो मुख्य प्राण में ही अवस्थित रहती हैं, उसका 'अन्न' होकर। इसका यही अर्थ है कि इंद्रियों का अन्योन्य सम्बंध प्राण के द्वारा ही कार्यान्वित होता है। यह सप्त ऋषि मंडल मानव के भौतिक पक्ष का उन्नायक रूप है जो यह घोषित करता है कि प्रत्येक भौतिक अंश का उसी सयय सत्य महत्त्व होगा जब वे 'दिव्य देव ऋषियों' से

---

24 हिन्दी साहित्य और सूफी मत, विमलकुमार जैन, पृ० 72.

25 ईरान के सूफी कवि, स० बांके बिहारीलाल, पृ० 319

26 वृहदारण्यकोपनिषद, खंड 4, पृ० 510 श्लोक 4 (उपनिषद् भाष्य खंड 4)

युक्त मानवीय ऊर्ध्व चेतना के अभियान में योगदान दे सकेंगे। सूफियों की विचारधारा में यह भारतीय सप्तक की भावना उनके सात मुकामात ही हैं जिसे जायसी ने सात चढ़ाव भी कहा है—

कहौ सो तेहि सिंघलगढ़, है खंड सात चढ़ाव।
फिरा न कोई जियतजिउँ, सरग पंथ देइ पाँव ।।[27]

इन्हीं सात चढ़ावों को एक स्थान पर सात खंड भी कहा है जिसके द्वारा चार बसेरे तक पहुँचा जाता है जो शरीरांतर्गत ही ज्ञात होता है—

बाक चढ़ाव, सात खंड ऊँचा।
चारि बसेरे जाइ पहूँचा ।।[28]

इस प्रकार की भावना कि शरीर के अंदर ही सातों मुकामात हैं, एक विदेशी सूफी कवि निजामी के इस कथन में प्राप्त होती है—

"मन रूपी उसी मंदिर में सात मार्ग थे और सातों सिलसिले भी वही थे।"[29]

एक अन्य सूफी कवि शब्सतरी ने शरीर के अंदर ही सब कुछ माना है, वह कहता है—

"इस संसार में ऊपर और नीचे की जो वस्तु है, उनका उदाहण तेरे शरीर में ही वर्तमान है। संसार तेरे ही समान एक शरीरधारी मनुष्य है, तू ही उसका प्राण है, तू ही इसका शरीर।"[30]

इस प्रकार सूफी कवियों ने सात मुकामों का समान रूप से वर्णन किया है चाहे उनके प्रयुक्त प्रतीकों में अंतर प्राप्त हो, परंतु उनके आंतरिक स्पन्दन में अर्थ की समानता है। जायसी में सात चढ़ावों या खंडों का वर्णन मूलतः निजामी के सात सिलसिलों और मार्गों तथा अत्तार से सात घाटियों के वर्णन की समकक्षता में रखा जा सकता है। जायसी ने इन सात खंडों का नामकरण भी भारतीय नामों से निर्वाचित किया है जो इस प्रकार है—शनीचर, वृहस्पति,

---

27 जायसी ग्रंथावली, पार्वती महेश खंड, पृ० 105
28 वही, अखरावट, पृ० 356
29 ईरान के सूफी कवि, पृ० 89
30 वही, पृ० 274-5.

मंगल, अदिति, शुक्र, बुद्ध और सोम।[31] इन सात खंडों में अंतिम "सोम का पाट" कहा गया है जो 'दसँव दुआर' का प्रतिरूप भी है। योग साधना में सोम से ही अमृत का प्रवाह होता है जिसे साधक पान करता है। इस प्रकार जायसी ने अतीव कुशलता से सूफी मुकामातों का भारतीयकरण (योग परक) किया है।

इन मुकामातों के समकक्ष चार अवस्थाओं का स्थान भी सूफी साधना में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जायसी ने, जैसा कि ऊपर के एक उदाहरण से स्पष्ट है इन अवस्थाओं को 'चार बसेरे' तथा 'चार निसेनी' की सँज्ञाएँ प्रदान की हैं। इन चार बसेरों का एक अन्य स्थान पर संकेत इस प्रकार है—

चार बसेरे से चढ़ै, सत सो उतरे पार।[32]

इसी प्रकार चार निसेनी का वर्णन भी है—

सात खंड अरु चारि निसेनी।
अगम चढ़ाव पंथ तिरबेनी।।[33]

इन चार अवस्थाओं का वर्णन नूर मुहम्मद ने एक भिन्न रूप से किया है :—

एक सरीर मंदिर छबिधारी। दूसर है यह मन फुलवारी।।
तीसर मैं जीव अस्थाना। चौथा जोति सदन हम जाना।। [34]

चौथी अवस्था 'मारफत' को "जोति-सदन" कहा गया है जहाँ परमज्ञान की ज्योति प्रकाशित होती है। तीसरी अवस्था में जीवात्मा 'हकीकत' के अंदर स्थान ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार 'तरीकत' और 'शरीअत' क्रमशः द्वितीय एवं प्रथम अवस्थाएँ हैं।

●

31 जायसी ग्रंथावली, अखरावट, पृ०356.
32 वही, सिंहल द्वीप वर्णन खंड, पृ०19.
33 वही, अखरावट, पृ० 320.
34 इंद्रावती, मानिक खंड, पृ० 121.

सोमनाथ गुप्त

*

हिन्दी नाटक की लोकधर्मी परम्परा के दो प्राचीन नाटक

17 वीं शताब्दी के दो हिन्दी नाटक और उनकी लोकधर्मी परम्परा सन् 1947 में पी-एच. डी. के लिए अपना शोध प्रबंध लिखते समय मेरे सामने यह प्रश्न था कि भारतेन्दु से पूर्व हिंदी नाटक साहित्य का सृजन क्यों नहीं हुआ और उसके प्रधान कारण क्या थे ? अपने से पूर्व इस विषय पर विचार करने वालों के मतों को प्रश्न का अन्तिम उत्तर स्वीकार न करते हुए मैंने कहा था— "वास्तव में अभाव का प्रधान कारण युग का अनुपयुक्त वातावरण है।"[1] यह कथन अधिकांश में साहित्यिक नाटकों के लिए था और वह आज भी वैसा ही अक्षुण्ण है जैसा सत्तरह साल पहले था; यद्यपि मेरे ग्रंथ के पश्चात् लगभग बीस शोध ग्रंथ हिंदी नाटक साहित्य के सम्बन्ध में लिखे जा चुके हैं। अपने पूर्व कथन के साथ ही साथ मैंने रंगमंचीय नाटकों में अमानत कृत 'इंदर-सभा' (1853 ई०) को सर्वप्रथम नाटक भी माना था। इंदर-सभा की गणना गीति-नाट्य अथवा Opera ने अन्तर्गत मानी गई थी।

अपनी नवीन खोजों के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इंदर-सभा एक 'स्वांग' है और यह कृति मौलिक होते हुए भी अपने से पूर्व चली आती हुई परम्परा में ही लिखी गई है।[2] इस लोकधर्मी परम्परा का लिपिबद्ध इतिहास निश्चित रूप से सन् 1752 ई० अर्थात् अमानत की कृति से एक सौ वर्ष पहले और संदिग्ध रूप से सन् 1686-89 से प्रारम्भ होता है।[3] अतएव

1 हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास ; (1958), पृ० 24.

2 माधव-विनोद ; संपादक डा० सोमनाथ गुप्त (सन् 1964) भूमिका.

3 वही

हिंदी नाटकों की लोकधर्मी परम्परा हमें भारतेन्दु से लगभग दो सौ वर्ष पहले भी प्राप्त हो जाती है।

हिन्दी की इसी लोकधर्मी परम्परा में 'यक्षगान' नाम से विख्यात नाट्य-परम्परा भी उल्लेखनीय है। वास्तव में यक्षगान दक्षिण भारत की देन है। सर्व-प्रथम इनका प्रादुर्भाव तेलुगु या आंध्र साहित्य में हुआ। आंध्र प्रदेश के कूचो पूड़ी में सिद्धेन्द्र योगी नामक कवि से इसका उद्गम माना जाता है। कम से कम तेलुगु साहित्य के इतिहास में यही यक्ष गानों के मार्गदर्शी थे। तेलुगु राजाओं में अधिकता यक्षगानों के रचयिता विजय राघव नायक थे।

आरम्भ में यक्षगानों के नायक-नायिका शिगी-शिगा जैसे देहाती पात्र थे। धीरे-धीरे उसमें नागरिक पात्रों का समावेश हुआ और यक्षगान ग्रामीण जनता की मनोरंजन सीमा से उठकर नागरिक जनता तक ही नहीं वरन् राज्याश्रमय पाकर राजकुलों के मनोरंजन का भी साधन बना। बड़े-बड़े पण्डितों और राजाओं तक ने यक्षगानों की रचना की। तंजौर अथवा तंजावूर के नायक एवं मरहठा वंश के राजाओं का इसमें विशेष योगदान था।

यक्षगान एक प्रकार का नाट्य-नाटक है जो गीत-प्रधान होता है। आज कल जो यक्ष गान मिलते हैं उनमें अधिकतर दरु, चूर्णिका, कैवार आदि छन्दों में गीत जतियों के साथ गाये जाते हैं। सामान्यतया यक्षगान का आरम्भ नांदी और सूत्रधार के साथ ही होता है। कथा अथवा पात्रों का व्याख्यात्मक भाग गद्य में रहता है और संवाद आदि पद्यबद्ध गीतों में होता है। गद्य का अंश सूत्रधार द्वारा सामाजिकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। अंत में मंगलाचार होकर नाटक की समाप्ति होती है।

तेलगु यक्षगान की इसी परम्परा में हिन्दी में लिखे गये दो नाटक श्री एस० गणपति राव (स्वानन्द) द्वारा सम्पादित होकर तंजौर महाराज सर्फोजी सरस्वति महल लाइब्रेरी ने सन् 1961 में प्रकाशित किए। इनके नाम क्रमशः 'विश्वातीत-विलास नाटक' तथा "राधा वंसीधर विलास नाटक" हैं। लेखक तंजौर नरेश श्री शाहजी महाराज सन् (1684-1711) हैं।

विश्वातीत-विलास नाटक :—एक पौराणिक आख्यान पर अवलम्बित है। शिवजी की महिमा वर्णन प्रधान उद्देश्य है। विष्णु और ब्रह्मा के बीच प्रश्न उत्पन्न होता है कि दोनों में वड़ा कौन है। नारद दोनों को पार्वती के पास ले गए। उन्होंने विष्णु और ब्रह्मा से शिवजी के सिर और चरण की खोज

करने को कहा । दोनों असफल होकर लौटे और शिव को अपने से बड़ा मानने लगे । दोनों की अनुपस्थिति में लक्ष्मी और सरस्वति भी जगदम्बा पार्वती के पास आकर पति विरह निवेदन करने लगीं । अन्त में शिव दर्शन से दोनों को आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति हुई । कवि ने शृंगार में विप्रलम्भ का यथोचित वर्णन किया है ।

राधा-बंशीधर विलास नाटक—राधा और कृष्ण की एक लीला पर अवलम्बित है । कृष्ण से रूठकर राधा यमुना तट के किसी कुँज में अपनी सखी के साथ चली गई । उनके दुख में दुखित कृष्ण ने अपने मित्र उद्धव को राधा को मनाने के लिए भेजा । उद्धव असफल होकर वापिस लौट आए । इसी बीच एक सिद्ध योगी कृष्ण को बंसी की तान छेड़ने की मन्त्रणा देता है । बंसी की तान सुनकर माननी राधा अपना मान छोड़ कृष्ण से मिलने चल देती हैं । प्रेम-मिलन में नाटक की समाप्ति होती है । विप्रलम्भ से आरम्भ होकर उत्तुंग शृंगार वर्णन पर नाटक समाप्त होता है ।

भाषा—दोनों नाटकों की भाषा अपने समय की साहित्यिक भाषा ही कही जानी चाहिये । विशेषकर उसका जो रूप दक्षिण भारत में प्रचलित था । इस भाषा में मालवी, राजस्थानी, अवधी, ब्रज, मराहठी और तेलगु सभी सम्मिलित थे । तमिल का प्रभाव भी उस पर था । सूत्रधार ने इस भाषा को "गोलरी भाषा" कहा है ।

"इस रंगभूमि बीच गोलरी भाषा भूषित हम नृत्य करे चाहे ।" पृ० २ 'गोलरी' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं प्रतीत होता । तमिल की लिपि के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि तमिल लिपि का आधार 'वट्टेलुत्तु' (गोल लिपि) है । कहीं इसी 'गोल' शब्द से तो 'गोलरी' शब्द नहीं निकला ?

भाषा के उदाहरण :—

1. पाय परुं साई मोरे ।
   मेहर करो निशि-दिन मुझ पर ।
   तुमारो ध्यान करूँ । तुमारो ही जप करूँ ।
   तुम विन और न कोई सुन ले ।

सूत्रधार—ऐसे कहे नारद के वचन सुन शाम बोले देखो ।
शाम—सुनो नारद महामुनि कहसूँ आये ? क्या खबर, सो कहो ।
नारद—स्वामी मैं तो ब्रह्म लोक सूँ आया । वहाँ के खबर तो ब्रह्मा ने

कहा । आप बड़ा, आप सूं बड़ा नहीं । सब सृष्टि तो संवार मैंने किया । सब निर्माण मैं किया । या सो मो सूं ब्ड़े और कोई नहीं । ऐसे कहे । वासो मैंने कहा । सबसे वड़े विष्णु जी । ऐसे कहे । उन्होंने कहा । विष्णु जी काहे के वड़े । मैंने निर्माण किया तो वे संरछन करेंगे । या सो मो सूं बड़ा और कोई नहीं । ऐसे कहे । वाके बचन सुन तुमसू कहने आये ।

विश्वातीत विलास, पृ० 3

2. गजमुख आवे देखो गजमुख ।
सब तुम गजमुख आवे देखो ।।
अरुन मुख मंडल गंड नाद विराजत ।
खंडेन्दुसेखर सो गौरी सुत ।।
विघ्न तिमिरहर ज्ञान सूर्य प्रकाश करे ।
अपने भक्त पर दया कर ।।
अंग अंग नाग भूखन विराजत ।
भव सागर खेद हरनहार ।।

सूत्रधार—ऐसे विघ्नेश्वर आये । राधा बंसीधर विलास नाटक के विघ्न सब दूर किये । वहार कथा ऐसी चले । राधाशाम सूं प्रणय कलह कर । रूठ शृंगार वन में आवति है कहकर, वन में गौरि लोक दूर करवे कु द्वारपाल आवे देखो ।

राधा-बंसीधर विलास नाटक, पृ०17

शाहजी महाराज : (सन् 1684-1711 ई०)

उक्त दोनों यक्ष गानों के लेखक शाहजी महाराज हैं । यह शाहजी शिवाजी के पिता न होकर शिवाजी के सौतेले भाई वेनका जी या एकोजी के पुत्र थे । सन् 1674 में एकोजी ने तंजौर का राज्य अपने अधीन किया था । उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके तीन पुत्रों—शाहजी (1684-1711), सरभोजी (1712-28) तथा तुक्कोजी (1728-36)—ने सम्मिलित रूप से राज्य चलाया । "तंजौर राज्य के मरहठा राजाओं" के इतिहासकार श्री के० आर० सुब्रमनियन का कथन है कि—

"यद्यपि शाहजी 12 वर्ष की अल्पायु में ही सिंहासनारूढ़ हुए परन्तु उनका शासन बड़ी कुशलता एवं सफलता से चला । वह स्वयं अकालप्रौढ़ एवं प्रतिभासम्पन्न थे । साहित्य की इतनी अधिक मूल्यवान खेती किसी अन्य मरहठा

राजा से हमें प्राप्त नहीं हुई । वह स्वयं एक विद्वान और बहुभाषाविद् थे तथा विद्या को प्रश्रय देते थे ।"[1]

"उनके पास 46 विद्वानों का अपूर्व भद्र मंडल था ।"

"अद्वैत कीर्तन" की पांडुलिपि से पता चलता है कि शाहजी अन्त में योगी हो गए थे । सम्भवतः यह मरहठा संतों की शिक्षा दीक्षा का प्रभाव था । संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथ 'बोलस-वंशावली' से पता चलता है कि शाहजी की बहिन भी योगिनी हो गई थीं । शाहजी पर ब्रह्मानंद योगी और उनके शिष्य पूर्ण ब्रह्मानन्द पर बड़ी श्रद्धा रखते थे ।

दोनों नाटकों का महत्त्व : भाषा अथवा भावों की मौलिकता की दृष्टि से इन दोनों नाटकों का महत्व बहुत अधिक न आंका जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि **लोकधर्मा नाट्य परम्परा में दोनों नाटक अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं** और **नाटक साहित्य के इतिहास को निश्चित रूप में 17 वीं शताब्दी के अन्त में ला देते हैं ।** इन नाटकों का महत्त्व इसमें भी है कि सुदूर दक्षिण में मरहठों के राज्यकाल में हिन्दी के प्रति उनका जो आदरभाव था, ये उसके प्रमाण हैं । हिन्दी केवल उत्तर भारत की ही बोलचाल की भाषा नहीं थी वह सांस्कृतिक एकता और भावात्मक एकता की भी जननी रही और इसीलिए दक्षिण तक के राजदरबारों और सामान्य मनुष्यों में उसके प्रति सम्मान का भाव था और उसमें रचना करके अपनी विशाल हृदयता एवं जनमानस कल्याण की भावनाओं को भी प्रदर्शित करते थे ।

उपरोक्त आधार पर हम कह सकते हैं कि पूर्व-भारतेन्दु काल में हिन्दी नाटक साहित्य सृजन का अभाव नहीं था । तथ्य इतना ही था कि 'लोकधर्मी नाटक, 'नाटकधर्मी' नाटकों की अपेक्षा अधिक रचे जाते थे । संभवतः इसका कारण यह भी था कि नगरवासी तत्कालीन राजनीतिक जंजालों में फँसे रहने के कारण इस प्रकार के मनोरंजनों पर अधिक ध्यान नहीं दे सकते थे । फिर उन्हें कोई राज्याश्रय भी प्राप्त नहीं था । वह युग ही ऐसा रहा जब प्रजा सब बातों

---

1 The Marhatha Rajas of Tanjore : K. R. Subramanian (1628); Chapter IV.

के लिए राजा की ओर ही टकटकी लगाये बैठी रहती थी। अपनी उपक्रम प्रेरणा उसमें नहीं रह गई थी। ग्रामीणों का जीवन अपेक्षाकृत अधिक शान्तिपूर्ण था और वे अधिक मनोरंजन की पूर्व परम्पराओं की सुरक्षा में दत्तचित्त थे। इन्हीं उपकरणों ने लोकधर्मी नाटकों का विकास किया और साहित्यिक नाटक साहित्य पिछड़ा रहा।

ओ० पी० राम कैमल

हिन्दी और मलयालम् के आंचलिक उपन्यास

आंचलिक उपन्यास के क्षेत्र में मलयालम् भाषा अत्यन्त समृद्धिशाली है। हिन्दी में भी कई आंचलिक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। दोनों भाषाओं में आंचलिक उपन्यास की परिभाषा एवं उपन्यास जगत में उसके अलग व्यक्तित्व का विचार करना अवांछनीय नहीं होगा।

'आंचल' शब्द का अर्थ है क्षेत्र। अतः भौगोलिक, भाषाई, सामाजिक और वर्ग विभाजन के किसी एक सीमित क्षेत्र के आधार पर जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं वे सब आंचलिक उपन्यास के अन्तर्गत आ जाएँगे। उद्देश्य की दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों का धर्म अन्य उपन्यासों से भिन्न नहीं; परन्तु आंचलिक उपन्यासकार समस्त मानव समाज और अखण्ड भूभाग को अपने उपन्यासों की विषयवस्तु बनाकर उसका सतही और स्थूल वर्णन के बजाय, किसी एक विशेष जाति, प्रांत, भाषा, गाँव या व्यवसाय के लोगों को उपन्यास का केन्द्र बिन्दु बनाकर उनकी विशिष्टता का सूक्ष्म वर्णन तदनुसत स्थानीय एवं पात्रानुकूल भाषा या बोली के माध्यम से कहना अधिक पसन्द करते हैं।

आंचलिक उपन्यासों की उत्पत्ति के कारण के सम्बन्ध में एक लेखक ने यों लिखा है—"जब किसी राष्ट्रीय संस्कृति की सीमाओं में पर्याप्त वैविध्य हो, भौगोलिक विभाजनों के अनुरूप पर्याप्त अनेकरूपता हो, जीवन के प्रतिमानों में इंद्रधनुषी रंजन हो तो आंचलिकता के लिए उर्वर भूमि एवं प्रचुर सामग्री प्रस्तुत हो जाती है।"[1] वस्तुतः स्थानीय एवं विशिष्ठ सामाजिक समस्याओं को हूबहू अभिव्यक्त करने की लेखकों की स्वाभाविक तत्परता और अंचल के प्रति प्रगाढ़ प्रेम दो प्रधान कारण हैं। इनके बारे में उक्त लेखक ने ध्यान नहीं दिया है। उसी प्रकार आंचलिक उपन्यासों की प्रगति के कारण को खोज निकालने में भी

---

1 महेन्द्र चतुर्वेदी-आजकल–1962 फरवरी पृष्ठ नं० 206

लेखक भूल कर बैठे हैं। उसी लेख में उन्होंने इस प्रकार लिखा है—"आंचलिक उपन्यास की प्रगति भी हमारे यहाँ आश्चर्यजनक कही जाएगी। इसका कारण भी शायद यही रहा है कि हमारे यहाँ आंचलिकता के पोषक तत्त्वों का अस्तित्व तो बहुत पहले ही प्रचुर मात्रा में रहा है, परन्तु उपन्यास में उसकी अभिव्यंजना बाद में हुई तब काफ़ी सघनता के साथ हुई।"[2] लेखक के मत में आंचलिकता कुछ तत्त्वों पर आधारित है जो समाज में बहुत पहले ही मौजूद हैं। इस मान्यता पर बहुत आक्षेप की गुंजाइश नहीं। वस्तुतः सामाजिक जीवन के सूक्ष्म यथार्थवादी दृष्टिकोण ही आंचलिक उपन्यासों की उत्पत्ति का प्रधान प्रेरक तत्त्व है। इस ओर उनका ध्यान नहीं गया। हिन्दी उपन्यास-जगत में आंचलिकता की अभिव्यंजना बाद में होने का कारण और कुछ नहीं; हिन्दी उपन्यासकारों में सूक्ष्म यथार्थवादी चित्रण की क्षमता प्रेमचन्दोत्तर काल में ही हुई और इसलिए आंचलिक उपन्यासों की रचना भी उसी समय हुई।

कुछ लेखकों का विचार है कि आंचलिक उपन्यास में प्रयुक्त भाषा स्थानीयता की संकुचित सीमा को तोड़ नहीं देती। अतः ये उपन्यास विश्व के प्रमुख उपन्यासों में स्थान नहीं पा सकते। क्योंकि उनका प्रामाणिक अनुवाद संभव नहीं। आलोचना के क्षेत्र में यह एक प्रकार की विपरीत दृष्टि है क्योंकि औपन्यासिक तत्वों में आजकल कथानक या भाषा उतनी प्रधान नहीं जितने कि पात्र एवं संभव समस्याएँ। वैसे ही लेखक को पता नहीं कि कितने लोगों ने प्रेमचन्द को समझने के लिए हिन्दी और उर्दू पढ़ी है। प्रमुख औपन्यासिक तत्त्वों की विशिष्टता एवं पाठकों की रुचि पर ध्यान दिए बिना आंचलिक उपन्यासों के अलग चिरस्थायी व्यक्तित्व पर कलंक लगाना अभिलक्षणीय नहीं। वस्तुतः भाषा की स्थानीयता पात्रानुकूल कथोपकथन की रोचकता बढ़ाती है। प्रामाणिक अनुवाद अनुवादक की क्षमता पर निर्भर है। वैसे ही आंचलिक उपन्यासों के स्थायित्व पर लेखक की दूरदर्शिता भ्रमपूर्ण है—"यदि आंचलिक उपन्यास की धारा अतिवादिता या अतिशयता के मरुस्थल में न भटक गयी तो वह आने वाले कुछ वर्षों में निश्चय ही अत्यन्त पृथुल और समृद्ध होकर बहेगी; इसमें सन्देह नहीं।[3]" यदि अतिवादिता या अतिशयता से लेखक का तात्पर्य सूक्ष्म यथार्थवादी चित्रण से है तो वह उनके जीवन दृष्टिकोण की युगविरुद्ध भावना है।

---

2 वही।

3 महेन्द्र चतुर्वेदी-आजकल-फरवरी-1962-पृष्ठ नं० 207

आंचलिक उपन्यास के विरुद्ध प्रमुख आक्षेप यह है कि आंचल के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण लेखक राष्ट्र को गौण बना देता है। आंचलिक उपन्यास पर राष्ट्रव्यापक उपन्यास न होने के कारण से दोषारोपण करना उसके शब्द-गत अर्थ को न समझने का दुष्परिणाम है। डा० त्रिभुवनसिंह ने भी 'हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद' में प्रायः इन्हीं आक्षेपों को दोहराया है। उनके मत में आंचलिक उपन्यासकार पाठकों को प्रभावित करने वाले पात्रों का (कथानायकों का) निर्माण नहीं करते। उसी प्रकार पात्रानुकूल वार्तालाप से उसको बोलियों का अजायबघर बना देता है। भारतेन्दुयुगीन नायक-नायिकाओं की रंग-रेलियों से ओतप्रोत नहीं है आंचलिक उपन्यास। वह उस साहित्यशाखा की प्रगति का पदचिह्न है। वैसे ही स्थानीय सामाजिक समस्याओं को लिपिबद्ध करने में पात्रानुकूल वार्तालाप से मुँह मोड़कर व्यावसायिक हानि-लाभ की दृष्टि अपनाते हुए राष्ट्रभाषा-प्रयोग के औचित्य पर लेखक बल देता है। कितना अच्छा होता यदि आंचलिक उपन्यासों की तदनुसृत व्यावहारिक अर्थ को लेकर आलोचना करते।

वस्तुतः साहित्य के सत्य और सौन्दर्य पक्ष की सच्ची अभिव्यक्ति आंचलिक उपन्यास में जितनी होती है उतनी अन्यत्र नहीं। उसी प्रकार जीवन की विविधता में एकता के परिचय कराने में आंचलिक उपन्यास का योगदान महत्व-पूर्ण है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास का उपन्यास-जगत में एक अलग स्थान है; चिरस्थायी अलग व्यक्तित्व है।

अब हम हिन्दी तथा मलयालम भाषाओं में आंचलिक उपन्यासों के विकास क्रम की संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचना करेंगे। हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का श्री-गणेश 1954 ई० में 'परती परिकथा' के साथ फणीश्वरनाथ रेणु के रंग-प्रवेश से हुआ जब कि मलयालम में 1934 में ही उसका सृजन हो चुका था। मलयालम के आधुनिक उपन्यासकार श्री तकषी शिवशंकरपिल्लै के अधिकांश उपन्यास आंचलिक हैं। वैसे ही उरूब, मुहम्मद बषीर, पोन्कुन्नम् वर्की आदि आधुनिक युग के प्रतिनिधि उपन्यासकारों के समस्त उपन्यास आंचलिक हैं। हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'परती परिकथा', 'मैला अंचल', शिवप्रसाद मिश्र का 'बहती गंगा', उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य', उग्र का 'फागुन के चार दिन' आदि हैं। ये सब 1954 के बाद के हैं। परन्तु इनमें आंचलिकता की परिरक्षा सम्पूर्ण रूप में हुई है। इनमें 'सागर लहरें' और मनुष्य वर्ग-विशेष को लेकर लिखा गया

है । अन्य उपन्यासों में यह विशेषता बहुत कम है । 'मैला अंचल' की कथा को ही उदाहरणार्थ लीजिये । पूर्णिमा जिले के मेरीगंज गाँव के सभी वर्ग के लोगों की कथा इसमें ली गयी है ।

मलयालम के अधिकांश आंचलिक उपन्यास वर्ग-विशेष या धर्म-विशेष को लेकर लिखे गये हैं । दोनों भाषाओं के आंचलिक उपन्यासों में सूक्ष्म यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है । प्रगति की दृष्टि से हिन्दी में आंचलिक उपन्यास शैशवावस्था में हैं तो मलयालम में प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर चुका है । ऐसा कोई वर्गविशेष, जातिविशेष या धर्मविशेष नहीं जिस पर मलयालम में उपन्यास नहीं लिखा गया हो । तकषी ने अपने उपन्यासों को निम्न वर्ग, निम्न मध्य वर्ग, मध्य वर्ग आदि वर्गों के, हरिजन, उच्च हिन्दु आदि जाति भेदों के और भंगी, मछुआरा, अछूत, किसान, मजदूर आदि समाज विशेषों के आधार पर लिखा है । 'परमार्थंगल' में उन्होंने निम्न मध्य वर्ग की पतित कन्या की समस्या पर विचार किया है । 'तेण्डिवर्ग' में समाज में वर्तमान आर्थिक आधार शिला के दुष्परिणामों से भिखमंगों की वृद्धि की विवेचना की है । 'विल्पनक्कारी' में दूकानों में सौदा बेचने वाली औरतों का परंपरागत पतन और निस्सहाय वेश्यावृत्ति का रोचक वर्णन किया गया है । 'चेम्मीन' में समुद्र में मछली मारने वालों का अंधविश्वास, आचार-विचार आदि की अभिव्यक्ति है । 'औसेप्पिन्टमक्कल' में ईसाइयों के परंपरागत रहन-सहन और आचार-विचार के दुष्परिणामों का रोचक वर्णन किया गया है । 'पतित पंकज' में वेश्याओं के घृणित जीवन और उनमें वर्तमान पवित्र विचारधारा और सेवा भाव को उन्होंने उभार दिया है । 'तोट्टियुटेमकन' समाज में सबसे पतित, पददलित और घृणित भंगियों की वेदनामय जीवन-गाथा है । मुहम्मद बशीर का 'बाल्यकाल सखिकल' मलयालम का सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास है जिसमें मुसलमानों में प्रचलित 'सुन्नत' जैसे आचारों का वर्णन है । उरूब ने भी मुसलमानों के सामाजिक आचार-विचार एवं कुप्रथाओं को लेकर उपन्यास लिखे हैं । 'पोनकुन्नम् वर्की' ने अपने उपन्यासों के द्वारा ईसाइयों के सामाजिक जीवन की तह में वर्तमान मलिनता और घृणित आचार-विचार को नंगा करके दिखाया है । इन महान उपन्यासकारों के अथक परिश्रम से मलयालम उपन्यास साहित्य की यह शाखा समृद्धिशाली हुई है ।

हिन्दी और मलयालम् में आंचलिक उपन्यासों के विकास-क्रम के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलेगा कि मलयालम् के सामाजिक क्षेत्र में वर्तमान

राजनैतिक युग-चेतना ने साहित्य क्षेत्र में सरस्वती के वरद पुत्रों को सूक्ष्म यथार्थवादी दृष्टिकोण बहुत पहले ही प्रदान किया था जब कि हिन्दी में प्रेमचन्दोत्तरकाल में ही साहित्यकारों में यह दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है। अतः बीस वर्ष के बाद 1954 में ही हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का प्रारम्भ हुआ। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी में साहित्य की यह शाखा विकासोन्मुख है तो मलयालम् में प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर चुकी है।

शम्भुनाथ पाण्डेय

★

रामचरित मानस में विदेशी शब्द

तुलसी लोकमानस के कवि थे। उनकी विचार-सम्पत्ति में जैसे शास्त्र और लोक का मणि-काञ्चन संयोग हुआ है उसी प्रकार उनके शब्दकोष में शास्त्रीय और लोकप्रचलित शब्दावली का सुगुम्फन हुआ है। तुलसी के समय तक इस्लामी सभ्यता भारत के जन-जीवन में घुलमिलकर देश की व्यापक संस्कृति का एक अंग बनने लगी थी। 500-600 वर्ष की लम्बी अवधि दो संस्कृतियों के समन्वय के लिए पर्याप्त थी। संस्कृति का मिलाप भाषा के माध्यम से ही होता है। अतः यह स्वाभाविक था कि फारसी और अरबी के अनेक शब्द जनता की भाषा में निर्बाध प्रवेश पा जाते। तुलसी ने उन्हीं शब्दों को अपनाया है जो लोकप्रचलित हो गये थे और देशी भाषा में प्रायः घुलमिल गए थे। प्रयोग करते समय कवि ने विदेशी शब्दों के प्रति कोई भेद-भाव नहीं बरता। उनके द्वारा उसने अनेक लाक्षणिक अर्थ व्यक्त किए हैं, संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव पूर्व और पर सर्गों का उनमें प्रयोग किया है। फारसी और संस्कृत एक ही परिवार की भाषाएँ हैं इसलिए कहीं-कहीं तो यह कहना कठिन हो जाता है कि अमुक शब्द संस्कृत का तद्भव रूप है या फारसी का जैसे—रजाइ, रजाई, नावरि, नाव। अरबी भाषा के शब्द भी हिन्दी-प्रदेश में फारसी के माध्यम से ही आए हैं इसलिए उनके प्रयोग एवं प्रचार में भी कोई भिन्नता नहीं है।

अरबी शब्द—

प्रयुक्त रूप	मूल शब्द
अँबारी (1-300-1)[1]	अभारी
कबुली (2-22-1)	क़बूल
कुलि (1-35-10)	कुल
कागद (1-9-11)	क़ाग़ज़

[1] कोष्ठकों में दी गई संख्या क्रमशः काण्ड, दोहा और अर्द्धाली की द्योतक है।

खबरि (1-175-3)	ख़बर
गनी (1-28-6)	ग़नी
गरीब (1-13-6)	ग़रीब
जमात (1-13-12)	जमाअत
जहाज (2-220-10) जहाजु (1-261-13) जहाज (2-86-3)	जहाज़
खालें (2-315-5)	ख़ाली
तलफत (2-153-6)	तल्फ
दुनी (7-101-9)	दुनिया
बजाज (7-28-11)	बज़ाज़
बाग (1-37-16) बागन्ह (2-83-8) बागु (1-227-3) बागा (1-40-6)	बाग़
बाज (1-268-3) बाजु (2-28-10)	बाज
फोज (6-67-7)	फ़ौज़
मसखरी (7-98-6)	मसख़रा
रजाइ (2-191-1), रजाई (2-39-7)	रज़ा
लायक (1-18-9)	लायक़
सक (1-245-2)	शक
सराफ (7-28-11)	सर्राफ़
साहिब (1-13-7), साहिबहि (2-268-3) साहिबु (2-306-9)	साहिब
हाल (6-104-10) हाला (1-79-2)	हाल
हवाले (6-90-8)	हवाला

फारसी शब्द

अंदेसा (1-14-10)	अंदेश
असबार (1-298-10), असवारा (1-95-8)	सवार
आन (2-100-10)	आन
कबारू (2-100-7)	कारबार
कोतल (2-203-4)	कोतल
कमान (2-41-2)	कमान
कुलह (2-28-8)	कुलाह

खीस (1-64-9), खीसा (1-183-10)	खिसार
खुआरू (2-305-6)	ख़्वार
गच (1-224-2)	गच
गर्द (5-55-7), गर्दा (6-67-3)	ग़र्द
गरदनि (2-185-6)	गरदन
गुदरत (2-240-5)	गुज़र
गुदारा (2-202-7)	गुज़ारा
गुनह (1-181-5)	गुनाह
गुमान (7-62-12), गुमानु (7-102-4) गुमानी (2-172-6)	गुमान
गूँगेहिं (2-307-4)	गुंग
चौगाना (6-27-5)	चौगान
जहाना (1-3-4)	जहाँ
जिनस (1-93-12)	जिन्स
जीन (1-298-4), जीनु (1-016-11)	जीन
जोरा (2-240-4)	ज़ोर
ताजी (0-38-6)	ताज़ी
तीर (1-40-6)	तीर
दरबार (1-206-10), दरबारा (2-76-6)	दरबार
नफीरि (6-41-3)	नफीरी
नेवाजा (2-250-8), नेवाजी (2-99-5) नेवाजू (1-13-7)	नेवाज
निसान (1-102-12), निसानहि (1-313-7) निसाना (1-154-4)	निशान
नेब (2-19-10)	नायब
नावँ (2-157-1), नाव (2-100-3) नावरि (6-88-6)	नाव
पयोंद (2-221-6), पयोदहिं (2-62-5) पयोदहि (2-112-5)	प्यादा
पिरोजा (1-288-4)	फीरोजा
पोच (1-6-3), पोचा (6-77-8), पोची (2-12-5) पोचु (2-282-9), पोचू (2,182-5)	पूच

फराक (7-29-1)	फराख़
बंदीखाना (6-90-4)	बंदीख़ाना
बकसीस (1-406-3)	बख़शिश
बजारु (1-213-2), बजारू (1-296-7)	बाज़ार
बरावरि (1-277-2)	बर
बिहरावा (5-22-2)	बहाल
बाउ (1-280-4)	वाह्
बिबाकी (1-24-4)	बेबाक़ी
बिहाल (1-113-6), बिहाला (4-6-12)	बेहाल
बिचारे (1-38-5), बिचारी (2-)	बेचारे
मजूरी (2-102-6)	मज़दूर
रुख (1-58-3)	रुख़
सजाई (2-19-5)	सज़ा
सदा (1-29-12)	सदा
सहनाई (1-263-1)	शहनाई
सहमि (2-20-1), सहमेउ (2-160-3)	सहम
सही (1-86-10)	सहीह
साज (1-299-5)	साज़
सादे (2-221-6)	सादह
सुपेतीं (1-356-2)	सफेदी
सोरा (6-68-2) सोरु (2-153-9) सोरू (2-86-1)	शोर
हराँसू (2-56-4)	हिरास
हुनर (7-31-6)	हुनर

मिश्रित शब्द

कुराईं (1-311-5) > कु + राह (संस्कृत + फारसी)

तिमुहानी (1-40-4) > ति + मुहानी (देशी + फा०)

सुनावँ (2-202-8) > सु + नावँ (सं० + फा)

बरजोर (2-299-10), बरजोरा (6-30-5) > बर (सं० बल) + ज़ोर (दे० फा०)

बिहाला (4-6-12) बिहालू (2-322-1)

वेहालू (2-37,1) > वे > बि+हाला (वे फा० + हाल अर०)
सुसाहिब (1-28-5), सुसाहिबहि (2-300-9)
सुसाहिबु (2-228-2) > सु-+साहब (सं० + अर०)
सिरताज (1-329-10) > सिर (शिर)+ताज (ताज़) (सं० + फा०)

आवृत्तियाँ—अरबी शब्दों की तुलना में फारसी शब्दों की आवृत्तियाँ अधिक हुई हैं। आवृत्तियों की गणना इस प्रकार है—

अरबी शब्द—साहिब (11), बाग (9) बागा (6) बागु (3), खबरि (8), रजाइ (8) रजाई (8), गरीब (3), तलफत (3), हाला (2) शेष अरबी शब्दों का प्रयोग केवल एक बार हुआ है।

फारसी शब्द—रुख (28), निशान (21) निसाना (12), सही (12), नाव (10), तीर (वाण के अर्थ में 7), सहमि (6) सहमेउ (3), असवारा (5), पयोद (5) पयादेहिं (3), पोच (5), पोचू (4), सहनाई (5), जिनस (4), बिचारे (4), खीसा (3) खीस (2), दरबार (3), बजारू (3) बजारु (2), बिहाला (2) बिहाल (2)' हराँसू (3) गुमानी (2) शेष शब्दों का प्रयोग केवल एक बार हुआ है।

बिहाल और सुसाहिब को छोड़कर मिश्रित शब्दों की आवृत्तियाँ मानस में नहीं मिलती।

लाक्षणिक प्रयोग—कोई विदेशी जब किसी अन्य देश में जाकर बसता है तो वह बसने वाले देश का अंग तभी बनता है जब देश की मिट्टी में घुल-मिलकर शेष देशवासियों के साथ एक रूप हो जाता है। हिन्दू और मुस्लिम जातियाँ जब शताब्दियों तक साथ-साथ रहीं तो यह स्वाभाविक था कि वे अपनी संस्कृति की एक दूसरे पर छाप डालें और देश की व्यापक संस्कृति में घुलमिल जायँ। मानस में प्रयुक्त विदेशी शब्दावली इस तथ्य का प्रमाण है। विदेशी शब्द जन-जीवन में इतने घुलमिल गए हैं कि उनका मूल स्रोत खोजना केवल ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का विषय बन गया है। मानस में प्रयुक्त विदेशी शब्द तुलसी के समय तक विदेशी नहीं रह गये थे यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि उनका मुहावरे के रूप में प्रयोग होने लगा था। लाक्षणिक रूप के निर्माण और प्रचलन में समय लगता है और तुलसी ने उनका प्रयोग इतने सहज ढंग से किया है कि वे कविनिर्मित न लगकर जनप्रचलित लगते हैं। कतिपय उदाहरणों से बात प्रमाणित हो सकेगी। आजकल की बोलचाल की

भाषा में जिस प्रकार 'खबर पाना' 'खबर लेना' इत्यादि रूढ़ोक्तियाँ प्रचलित हैं, गोस्वामी जी ने भी उनका प्रयोग बहुत कुछ उन्हीं रूपों में किया है जैसे—

खबर जनाना—

असुर तापसहि खबरि जनाई ।। 1।175।3
भूप द्वार तिन्ह खबरि जनाई ।। 2।290।3

खबर लेना—

खबरि लीन्ह सब लोग नहाए ।। 2।204।8
खबरि लेन हम पठाए नाथा ।।2।272।7

तुलसी ने 'खबर' शब्द का संज्ञा के रूप में व्यंग्यात्मक प्रयोग भी किया है। राम की शरण में गए हुए विभीषण के विषय में रावण दूतों से पूछता है—

पुनि कहु खबरि विभीषन केरी।
जाहि मृत्यु आई अतिनेरी ।।5।53।4

कबुली करना (कबूली करना) मुहावरा तुलसी ने वाममार्गी तन्त्र साधना से लिए है। जिस जानवर की बलि चढ़ाई जाती है उसे पहले देव प्रतिमा के समक्ष खड़ा किया जाता है। पशु का गर्दन हिलाना या शरीर का स्तब्ध रह जाना, देव द्वारा स्वीकृत किए जाने का लक्षण माना जाता है। तुलसी ने इसी अर्थ में इस मुहावरे का प्रयोग किया है—

कुबरी करि कबुली कैकेई।
कपट छुरी उर पाहन टेई ।। 2।22।1

पग परहिं न खोलें (गड्ढे में पैर न पड़ना)—
चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें ।।2।315।5

यह प्रयोग भी सीधा जन-जीवन से लिया प्रतीत होता है।

काल के हवाले करना—

आजु करहुँ खलु काल हवाले।
परेहु कठिन रावन के पाले ।।6।90।8

यह गर्वोक्ति भी लोक प्रचलित जान पड़ती है।

उक्त अरबी शब्दों से बने हुए मुहावरों की भाँति अधोलिखित फारसी शब्दों से बने हुए मुहावरे भी लोक प्रचलित रहे होंगे—

बिहाल फिरना (कातर होकर भटकना)—

ताके भय रघुबीर कृपाल।
सकल भुवन मैं फिरेहु बिहाला ।।4।6।।2

खीस घालना (नष्ट करना)—

बातन्ह मनहिं रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस ।।5।56।।1
आपनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा ।।1।183।10

बराबरी करना (सामना करना)—

तौ कि बराबरि करत अयाना ।।1।277।2

बेबाक करना (निःशेष करना, नष्ट करना)—

सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ।।1।24।4

गरदन मारना (गरदनिया देना)—

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी।
सो जानइ जनु गरदनि मारी ।।2।185।6

गुदरते बनना (गुजर होना)—

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई ।।2।248।5

गुदारा लगना (खेवा लगना)—

भा भिनुसार गुदारा लागा ।।2।202।7

कबारू (जीवन निर्वाह का साधन)—इस शब्द का प्रयोग गरीब किसान-मजदूर के आजीविका उपार्जित करने के अर्थ में बेहद सटीक अभिव्यंजना के साथ किया गया है। केवट नौका की ओर संकेत करके कहता है—

येहि प्रतिपालउँ सब परिबारू।
नहिं जानउँ कछु अउर कबारू ।।2।16।7

गर्द में मिलाना (खाक में मिलाना)—

मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा ।।5।55।7
कोटिन्ह मीजि मिलब महि गर्दा ।।6।67।3

गूँगे को वाणी मिलाना—

भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू ।।2।307।4
भै बकसीस जाचकन्हि दीना ।।1।306।6

बकसीस होना—इस मुहावरे का प्रचलन केवल अमीरों के यहाँ शादी-विवाह के अवसरों पर होता था या उनकी देखादेखी जनसाधारण में भी होने लगा था इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

बाउ (वाह !)—प्रयोग बड़ा ही अर्थ व्यंजक है—

वाउ कृपा मूरति अनुकूल ।।1।280।4

इसी प्रकार **हुनर** शब्द का प्रयोग भी बहुत अर्थ व्यंजक है—

मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ।।7।31।6

कोरे कागज पर लिखना (ब्लैंक चैक देने के अर्थ में, शपथ लेने के अर्थ में) का प्रयोग भी आमफहम मालूम पड़ता है—

कबित बिबेक एक नहिं मोरें।
सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरें।

रुख शब्द का वाच्यार्थ प्रयोग सामने या प्रतिदिशा के अर्थ में किया गया है जैसे—

रबि रुख नयन सकइ किमि जोरी ।5।59।8
दिन अन्त पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं ।7।6।11

किन्तु इसके लाक्षणिक प्रयोग अनेक रूप में किए गए हैं जैसे—रुख देखना, रुख रखना, रुख ताकना, रुख जानना, रुख पाना इत्यादि, प्रयोग इस प्रकार हैं—

संकर रुख अवलोकि भवानी ।।1।58।3
निज निज रुख रामहि सबु देखा ।2।244।7
पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ।1।334।5
लोकप करहिं प्रीति रुख राखे ।2।21।3
नरपति सकल रहहिं रुख ताकें ।2।24।3
चलेउ सुमंत्रु राय रुख जानी ।।2।39।2
रहसी रानि राम रुख पाई ।2।43।1
निरखि राम रुख सचिव सुत कारनु कहेहु बुझाइ ।2।54।9 इत्यादि।।

समस्त प्रयोग—

समस्त पदों के निर्माण में भी कवि ने देशी-विदेशी का कोई भेद भाव नहीं

माना। बर-लायक, भूप-बागु, गरीब-निवाजू, गनी-गरीब, जोगि-जमान, बजाज-सराफ-बनिक, कपि-फौज, काल-हवाले, ग्यान-गुमानी जैसे प्रयोग मानस में उपलब्ध हैं। उदाहरण क्रमशः—

1—बर लायक दुलहिन जग नाहीं ।।1।92।६

2—भूप बागु बर देखेउ जाई ।।1।227।3

3—गई बहार गरीब नेवाजू ।।1।13।7

4—गनी गरीब ग्राम नर नागर ।।1।28।6

5—कुंभकरन कपि फौज बिडारी ।।6।67।7

6—बैठे बजाज सराफ बनकि अनेक मनहुँ कुबेर ते ।।7।28।1।

7—आज करउँ खलु काल हवाले ।।6।90।8

प्रत्यय विधान

तुलसी का प्रत्यय विधान सर्वत्र देशी है। उन्होंने विदेशी शब्दों को जितना अपनाया है उतना शब्द के निर्मापक तत्त्वों को नहीं। कारण भी स्पष्ट है। प्रत्येक भाषा दूसरी भाषाओं से शब्दावली तो ग्रहण करती है किन्तु शब्द या वाक्य का निर्माण करने वाले तत्त्व अपने ही रखती है अन्यथा वह भाषा न रह कर बेमेल खिचड़ी बन जायगी। निर्मापक तत्त्वों की भाँति शब्दों का ध्वनि-विधान भी ग्राहक भाषा के अनुकूल बन जाता है। यह नियम जन-प्रचलित शब्दों के विषय में विशेष लागू होता है। तुलसी ने अपने काव्य में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे अपनी शुद्ध ध्वनियों का परित्याग करके हिन्दी ध्वनियों के अनुकूल बन गये हैं मानो उन्होंने अपनी स्वदेशी वेश-भूषा का परित्याग करके स्थानीय लिबास अपना लिया हो। दूसरे शब्दों में कवि ने विदेशी शब्दों को आत्मीकृत करके अपनाया है इसलिए वे जन्म-परम्परा के आधार पर ही विदेशी कहे जा सकते हैं। विदेशी शब्दों के निर्मापक परसर्गों का अवलोकन मिश्रित शब्द सूची में किया जा सकता है। यहाँ केवल व्युत्पादक प्रत्ययों की ओर संकेत करना पर्याप्त होगा।

1—सहमेउ>सहम+एउ, भूतकालिक कृदन्त, एक वचन, पुरुष वाचक।

प्रयोग—सुनत भरतु भए बिबस विषादा।
जनु सहमेउ करि केहरि नादा ।।2।160।3

2—नेवाजा—नेवाज+आ, भूत कालिक कृदन्त, एक वचन, पुरुष वाचक।

प्रयोग—राम कृपाल निषादा नेवाजा ।।2।250।8

3—बिहरावा—बिहराव+आ, भूत कालिक कृदन्त, पुरुष वाचक एक वचन।

प्रयोग—सुनि कपि वचन बिहसि बिहरावा ।।5।22।2

4—तलफत>तलफ + त, वर्तमान कालिक कृदन्त, उभय लिंग और वचन।

प्रयोग—तलफत बिषम मोह मन मापा ।।2।153।7
तलफत मीन पाव जिमि बारी ।।5।28।5

5—बागन्ह>बाग+न्ह, सप्तमी, बहुवचन, पुल्लिग प्रत्यय।

प्रयोग—बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं ।।2।83।8

6—सुनावँ—सु—नाव+अँ, सप्तमी, एक वचन, स्त्रीलिंग प्रत्यय।

प्रयोग—गुरहि सुनावँ चढाइ सुहाई।
नई नाव सब मातु चढ़ाई ।।2।202।8

7—निसानहिं—निसान+हिं, सप्तमी, बहु वचन, पुरुष वाचक प्रत्यय।

प्रयोग—भयउ समउ अब धारिअ पाऊ।
यह सुनि परा निसानहिं घाऊ ।।1।313।7

8—खालें>खाल+एं, सप्तमी, एक वचन, पु० वाचक प्रत्यय।

प्रयोग—चलेहु कुमग पग परहिं न खालें ।।

9—कुराईं>कु+राई=अँ, द्वितीया बहुवचन सूचक प्रत्यय।

प्रयोग—कुस कंटक काँकरी कुराईं।
कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं ।।2।311।5

10—बागा>बाग+आ, प्रथमा पुल्लिग, बहु वचन सूचक प्रत्यय।

प्रयोग—बिच-बिच कथा विचित्र बिभागा।
जनु सरि तीर तीर बन बागा ।।1।40।6

11—साहिबहि—साहब—हि, द्वितीया, पुल्लिग, एक वचन प्रत्यय।

प्रयोग—जो सेवकु साहिबहि सँकोची।
निज हितु चहहि तासु मति पोची ।।2।268।3
सुहृद सुजान सुसाहिबहि।
बहुत कहत्र बड़ दोस ।।2।300।9

12—गूँगेहि—गूँगा + एहि, चतुर्थी, एक वचन, पुरुष वाचक प्रत्यय ।

भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू ।।2।307।4

13—पयादें > पयादा + एँ
सादें > सादा + एँ } रीति वाचक क्रिया विशेषण सूचक प्रत्यय ।

प्रयोग—तेहि पाछें दोउ बन्धु पयादें ।

भूषन बसन बेस सुठि सादें ।।2।221।6

पयादेहिं > पयादा + एहिं
पयादेहिं > पयादा + एहि } रीति और निश्चार्थ सूचक क्रि० वि० प्रत्यय ।

प्रयोग—कुस कंटक मग काँकर नाना ।

चलव पयोदहिं बिनु पद त्राना ।।6।62।5

मारग चलहु पयोदें पाएँ ।

जोतिषु झूठ हमारे भाएँ ।।2।112।5

तिमुहानी > ति + मुहान—ई, स्त्रीलिंग विशेषण सूचक प्रत्यय ।

प्रयोग—त्रिविध ताप त्रासक तिमुहानी ।।1।40।4

पोची > पोच + ई, } स्त्री लिंग, एक वचन, विशेषण सूचक प्रत्यय ।
पोचा > पोच + आ } पुल्लिग, एक वचन विशेषण सूचक प्रत्यय ।

प्रयोग —चली विचारि बिबुध मति पोची ।।2।12।5

सकल कहहिं दसकंधर पोचा ।।6।77।8

नेवाजी > नेवाज + ई, एक वचन, पुल्लिग वाला के अर्थ में विशेषण सूचक प्रत्यय ।

साजी > साज + ई, ,, ,, ,, ,,

प्रयोग—को साहिब सेवकहि नेवाजी ।

आपु समान साज सब सब साजी ।।2।299।5

मजूरी > मजूर + ई, स्त्रीलिंग, एकवचन भाव वाचक संज्ञा सूचक अव्यय ।

बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी ।।2।102।6

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसी ने विदेशी शब्दों को ग्रहण करने में लोकव्यवहार और लोकरुचि को सदा ध्यान में रखा है । परम्परा-वादी होने पर भी कवि ने विदेशी शब्दों को स्वीकार करने में एवं स्वीकार कर लेने पर उनका प्रयोग करने में देशी-विदेशी का कोई विचार नहीं रखा । विदेशी शब्दों के प्रयोग ने कवि की अभिव्यंजना-शक्ति को बल प्रदान किया है ।

सुरेशचन्द्र गुप्त

गुरु नानक का काव्यादर्श[1]

पंजाब के जिन कवियों ने मध्यकालीन हिन्दी-कविता को गौरवान्वित किया है उनमें सन्त कवि गुरु नानक का शिरोमणि स्थान है। कबीर की भाँति उनका उद्देश्य भी काव्य-रचना न होकर जन-जन को मंगलमय उपदेश प्रदान करना था। अतः उनकी वाणी में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का समावेश अत्यन्त स्फुट रूप में ही हुआ है। उन्होंने काव्य-सिद्धान्तों की स्पष्ट चर्चा न करके प्रायः उन्हें भक्ति के सन्दर्भ में व्यक्त किया है। ऐसी प्रच्छन्न उक्तियाँ या तो काव्य-प्रयोजन से सम्बद्ध हैं अथवा उनमें काव्य-वर्ण्य पर विचार किया गया है।

काव्य का प्रयोजन

गुरु नानक ने आनन्द और मोक्ष को भक्ति-काव्य के सहज फल माना है और अर्थ-तृष्णा का निषेध किया है। भक्ति में प्रवृत्ति से भक्त को जो अलौकिक आनन्द मिलता है, भक्ति-काव्य की रचना से कवि भी उसका अधिकारी हो जाता है—"एक अधार नाम धन मेरा, आनन्द नानक यह लहिये।" (पृष्ठ 71) भक्ति के सन्दर्भ में कथित होने के कारण यहाँ आनन्द को मोक्ष का पर्याय मानना उचित होगा। इस मोक्ष-फल की प्राप्ति केवल कवि को ही नहीं होती, अपितु साधक अथवा सहृदय भी इसका अधिकारी होता है। नानक के अनुसार गुरु-वाणी को हृदयंगम करने से अथवा प्रभु के गुणगान से सहृदय भक्त 'निर्भय पद' पा लेता है अथवा 'पार' उतर जाता है—

(अ) सबद न जानउ गुरू का,
पार परउ कित बाट। (पृष्ठ 67)

---

1. इस लेख में गुरु नानक की उक्तियाँ श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'हिन्दी के कवि और काव्य, भाग 2' से उद्धृत की गई हैं और यथास्थान पृष्ठ-निर्देश कर दिया गया है।

(आ) अजहूँ कछु बिगर्यो नहीं, जो प्रभुगुन गावै ।
कहु नानक तेहिं भजन तें, निरभय पद पावै ।। (पृष्ठ 72)

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि काव्य की रचना से कवि को और उसके अनुशीलन से सहृदय को आनन्द अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है । यह भक्ति का अन्तरंग लक्षण है और काव्यशास्त्र में भी इसे मूर्द्धन्य स्वीकृति प्राप्त है । गुरु नानक ने भक्ति-काव्य के इस अन्तर्वर्ती धर्म के प्रति आश्वस्त होने के कारण ही जीवन में अर्थ-तृष्णा का निषेध किया था—"कउड़ी बदले नानका, जन्म चल्या नर खोइ ।" (पृष्ठ 66) का दृष्टिकोण कवि का जीवन-सिद्धान्त तो है ही, इसे उनकी काव्य-दृष्टि से भी सम्बद्ध किया जा सकता है ।

काव्य वर्ण्य

गुरु नानक ने हरि के कीर्ति-गान को भक्त कवि का एकमात्र लक्ष्य माना है। यद्यपि भक्तिकाव्य में भी प्रसंगवश अन्य विषयों का कथन सम्भव है, किन्तु उन्होंने इसका संकेत नहीं किया । जीवन में भक्ति की सार्थकता की चर्चा उन्होंने अपने बहुसंख्यक पदों में की है, किन्तु यहाँ प्रायः उन्हीं पंक्तियों को उद्धृत किया गया है जो भक्त के अतिरिक्त भक्त कवि के लिए भी कथित हैं—

(अ) कहु नानक भजु राम नाम हित, जा तें काज सरै ।[1]
(आ) सुफल जनम नानक तब हुआ, जो प्रभु जस में पाग्यो ।[2]
(इ) तन मन अरप करों जन सेवा, रखना हरि गुन गावों ।[3]
(ई) गुन गोपाल उचारत रसना, टेव यह परी ।[4]

इन उक्तियों में ईश्वर-महिमा के गान के लिए समर्पण-भावना और तल्लीनता को आवश्यक माना गया है । गुरु नानक ने इस आदर्श को सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही अपनाया है, अतः अन्त में यह कहना उचित होगा कि उनका काव्यादर्श 'भक्ति-काव्य की रचना से मोक्ष-लाभ' है ।

1—4 हिन्दी के कवि और काव्य, भाग 2, पृष्ठ 68, 69, 71, 73

वी० रा० जगन्नाथन

*

तमिल भाषा का ध्वनि वैज्ञानिक अध्ययन

प्रस्तावना : पिछले सत्र में संस्थान के अध्यापक-मंडल में डा० महावीर सरन जैन ने 'हिन्दी सीखने में तमिल भाषियों की कठिनायाँ' शीर्षक पर एक शोध पत्र पढ़ा था और वह पत्र इसी शीर्षक में लेख के रूप में गवेषणा मार्च, 1964 में छपा था। उस पत्र में डा० जैन ने तमिल की ध्वनियों के सम्बन्ध में जो लिखा था, उसमें कई बातें मुझे निराधार और भ्रामक लगीं।

उन्होंने तमिल में दो र् ध्वनियाँ मानी हैं—वर्त्स्य और मूर्धन्य, जब कि तमिल में वर्त्स्य र् मात्र है (वैसे मूर्धन्यलुंठिन र् का वर्णन भी मैंने पहली बार उन्हीं से सुना है)।

उन्होंने तमिल में ऐं, ब़् द़् ग़् ख़् ध्वनियाँ न मिलने की बात कही है। ये पाँचों ध्वनियाँ स्पष्ट, निर्विवाद रूप से तमिल में मौजूद हैं।[1] वर्त्स्यत्, फ़् का उच्चारण तमिल में नहीं होता।

तमिल में संध्यक्षर स्वर अइ और अउ नहीं मिलते। तमिल में कुछ अन्य ध्वनियाँ भी हैं जिनका उन्होंने उल्लेख नहीं किया। जैसे क़्, लघु ड़्, ह्रस्व अवृत्तमुखी पश्च स्वर तथा अनुनासिकता।

मैंने इन्हीं भ्रांतियों को दूर करने तथा तमिल के ध्वन्यात्मक गठन को और स्पष्ट करने की दृष्टि से यह शोध पत्र इस सत्रारभ में अध्यापक मंडल में पढ़ा था और अब यह विचारार्थ वरिष्ट विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत है।

0 : 1 तमिल भाषा की लेखन-पद्धति में व्यवहृत वर्ण 31 मात्र हैं जिनमें 12 स्वर हैं, 18 व्यंजन और एक विचित्र (unique) ध्वनि है। परन्तु बोल-

---

1. इन सभी ध्वनियों के विवरण के लिए लेख के अंत में प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय लिपि चिह्न का हिन्दी संस्करण देखें।

चाल की भाषा में व्यवहृत विविध ध्वनियों की संख्या इससे कहीं अधिक है। एक ही वर्ण अपनी स्थानगत तथा प्रयोगगत विशेषताओं के अनुसार कई विभिन्न ध्वनियों का बोध कराता है। परन्तु तमिल भाषा ध्वनि-विन्यास का एक अत्यन्त व्यवस्थित ढाँचा प्रस्तुत करती है। इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि इस ध्वनि-विन्यास (Sound Pattern) का वैज्ञानिक अध्ययन हो, जिससे वर्ण तथा ध्वनियों का परस्पर सम्बन्ध निर्धारित किया जा सके।

1·0 तमिल भाषा की ध्वनियाँ :

1. 1. स्वर

ई इं (मध्य) ऊ

इ उ,उं[1]

ए ओ

एँ अ ओँ

ऐँ आ

व्यावहारिक दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि तमिल में पाँच स्वर स्वनिम हैं—अ, इ, उ, एँ, ओँ और मात्रा एक स्वनिम है। इससे भाषा की ध्वनि-गठनात्मक अन्विति कायम होती है।

उदा० अरु	(फाड़ना)	आरु	(नदी)
इरु	(रहना)	ईरु	(मसूढ़ा)
उरु	(रूप)	ऊरु	(बाधा)
ऍरु	(खाद)	एरु	(हल)
ओँरु	(एक)	—	ओडु (दौड़ना)

इन स्वरों में इ, उ और एँ को छोड़कर अन्य सभी स्वर एक संस्वनिमिक हैं।

।इ। के तीन संस्वन दिखाई पड़ते हैं। शब्दों के मध्य में मध्य स्वर का प्रयोग होता है। इस प्रकार के दर्जनों शब्द तमिल में मिलते हैं।

उदा० मदिंल (दीवार), रिंदु (ऋतु), कदिंर (बाल-स्त्री०) आदि[1]।

शब्दान्त में इ दीर्घ हो जाता है और वही फिर प्रत्यय जुड़ने पर ह्रस्व हो जाता है। उदा० वण्डी (गाड़ी)—वण्डिक्कारन (गाड़ीवान), वण्डियिल (गाड़ी में)।

1. ऊपर का बिन्दु अनुस्वार नहीं अवृत्तमुखी उ का द्योतक है।

। ऍ । के दो संस्वन ऍ तथा ऐ॑ मालूम पड़ते हैं, क्योंकि इनमें कहीं व्यतिरेक दिखाई नहीं पड़ता।

उदा० ऍ॑ट्टु (लो) पडमॅ॑ड्डु (तस्वीर लेना (खींचना)) आदि । तिरै । तॅ॑रॅ॑ । (पर्दा), गॅ॑जम् (गज़) निलम् । नॅ॑लम । (ज़मीन) आदि।

। उ । शब्दान्त में अवृत्तमुखी हो जाता है ।

उदा० कादु॑ (कान), पञ्जु॑ (रुई), मेडु॑ (टीला) आदि

अन्यत्र इसका वृत्तमुखी रूप ही मिलता है ।

1 : 11. तमिल में कोई संध्यक्षर स्वर नहीं है । इतना ही नहीं, यहाँ कोई स्वर संयोग भी नहीं मिलता । यदि विदेशी भाषाओं से उधार लिए शब्दों में संध्यक्षर हो, तो उसके बीच में प्रायः श्रुति (glide) आ जाती है ।

उदा० दाऊद—दावूदु[1]

Clear । क्लिअ ।—क्लियर

वर्णमाला में अवस्थित दोनों संध्यक्षर अइ तथा अउ आज के तमिल भाषी के लिए अपने मौलिक रूप में आपरिचित हैं । प्रायः उसकी भाषा में ये दोनों स्वर क्रमशः अय् तथा अव् में परिविर्तित हो जाते हैं । विभिन्न स्थानों में इनका प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से है ।

अइ :—शब्दान्त में यह अय् या ऐ॑ हो जाता है ।

जैसे तलै । तलय् या तलै॑ । सिर.

शब्द के आरम्भ में तथा बीच में यह अय् ही रह जाता है ।

जैसे अय्यर, पय्यन, (लड़का), मय्क्कूडु (दवात)

कहीं संधि में और कहीं बोलचाल की भाषा में यह अ मात्र रह जाता है ।

जैसे—यानै /यान/ हाथी, अम्बद् (पचास), मोट्ट माड़ी (खुली छत)

अउ :—यह संध्यक्षर तमिल के शब्दों में बहुत कम प्रयुक्त होता है । इसका प्रयोग प्रायः उधार के शब्दों में ही होता है । इसके विविध उदाहरण यों हैं—अव्वयार् (तमिल की कवयित्री), पवुडर् (पाऊडर), गवुन (गाउन), गवुरवम् (गौरव), मवुनम् (मौन) ।

---

[1] छपाई की सुविधा की दृष्टि से अब से स्वरों को स्वनिमिक प्रतिलेखन में ही दिया जाएगा ।

इन उदाहरणों से शायद यह लगेगा कि यह स्थापन्न ध्वनि वास्तव में अव् नहीं है, बल्कि यह स्वर संयोग अउ है जिसके बीच में श्रुति व् का आगमन होता है। पर यह व्यवस्था तमिल के ध्वनि क्रमगठन के लिए असह्य है। यहाँ बाद में उ का आना परिवेशगत है (Conditioned) जैसे कहीं अइ (अय्) के संदर्भ में भी द्रष्टव्य है। एक स्थान में अय् के बाद इ का आगमन हुआ है।

जैसे—**वैरम**। वयिरम। (वज्र)

कुछ शब्दों में इस उ का आगमन नहीं भी होता। जैसे अव्वयार, सव्ख-रियम् (सौकर्य)।

1 : 2

व्यंजन	द्वयोस्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वत्स्र्य	मूर्धन्य	तालु-वत्स्र्य	तालव्य	कंठ्य
स्पर्श	प ब		त द		ट ड		च ज	क ग
अनुनासिक	म		ऩ	न	ण		ञ	ङ
पार्श्विक				ल	ल़			
लुंठित				र				
उत्क्षिप्त					ड़			
संघर्षी	व़	व़	द़	स		श	क़	ख़ ग़
संघर्षहीन और अर्ध स्वर				ष़			य	

1 : 21. प् त् क् ये तीनों व्यंजन शब्द के शुरू में ही आते हैं। जैसे पाय् (चटाई), ताय् (माँ), काय् (तरकारी)।

च् शब्द के शुरू में नहीं आता और शब्दारंभ में इसका उच्चारण स् हो जाता है।

जैसे सरी (ठीक), साप्पाडु (खाना), सारदा (शारदा), सप्पात्ती (चपाती)

कुछ विद्वानों का मत है कि तमिल के स्थानीय रूपों या वर्ग बोली (Class dialect) में शब्दारंभ में च् भी आ सकता है।

जैसे चामी (स्वामी), चट्टी (मटका)

पर कोई स्थान या वर्ग ऐसा नहीं है जिस पर यह नियम पूर्णतया लागू हो सके। हो सकता है कि यह व्यक्तिबोली का विषय मात्र हो और जिस स्थान का नाम लिया जाता है, वह मध्य क्षेत्र (relic area) मात्र हो। पर साधारण रूप से स् ही शुरू में उचित होता है।

ट् का शब्दारंभ में केवल उधार लिए हुए शब्दों में ही प्रयोग होता है जैसे टवुन (town), टवल्, टम्लर् (tumbler),

ये पाँचों व्यंजन ध्वनियाँ जब अनुनासिक व्यंजनों के बाद आती हैं, तब वे घोष ध्वनियाँ हो जाती हैं।

उदा०—अम्बु (तीर), पन्दु (गेन्द), पण्डम् (चीज), पञ्जम् (अकाल) पङ्गु (भाग)

शब्द के बीच में ये व्यंजन अकेले नहीं आते। स्वर मध्य में तथा तरल ध्वनियों के बाद ये द्वित्त्व में ही आते हैं।

उदा०—अप्पम्, मोत्तम्, पट्टम्, पच्चम्, पक्कम्,

पाल्क्कारन्, वाप्पु, पाक्कं, अर्त्तम (अर्थ), अर्च्चनय् (अर्चना)

डेनियन जोन्स अपनी पुस्तक The phoneme में फर्थ का मत उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि शब्द के बीच में स्पर्श अघोष ध्वनियाँ आ ही नहीं सकतीं। उनका यह द्वित्त्व वास्तव में मात्राधिक्य के कारण ही है। असल में ये द्वित्त्व नहीं है। जहाँ व्यंजन की मात्रा कम हुई वहाँ प् त् ध्वनियाँ घोष संघर्षी हो जाती हैं।

जैसे—कब़म् (कफ़), पाब़म् या पावम् (पाप), माब़ु (छाती), इयल्ब़ु (प्रकृति), साद़म्, काद़ु, अमिद़्म् (अमृत)

ट् स्वर मध्य में उत्क्षिप्त हो जाती है। पर इसकी उत्क्षिप्तता हिन्दी की तरह दीर्घ (Pronounced) तथा सुश्राव्य न होकर बहुत ही सूक्ष्म है।

जैसे—पाड़म् (पाठ), अड़म् (हठ), काड़ु (वन)

च् इन स्थानों पर स बन जाता है।

जैसे—पासम् (पाश), कासु (पैसा), वासी (बाँचना), पर्सु (Purse)

क् ध्वनि का परिवर्तन बहुत प्रकार से होता है। घोष तथा अघोष स्पर्श ध्वनियों को छोड़कर इसके तीन और संस्वन मिलते हैं। पर इनमें घोष तथा अघोष संघर्षी ध्वनियों का वितरण अभी निर्धारित नहीं हुआ है। मोटे तौर से इन्हें इस प्रकार बता सकते हैं।

य्, र्, ल् के बाद यह घोष कंठ्य संघर्षी ध्वनि हो जाती है, पर इसका संघर्ष कम ही होता है। उदा०—अवर्ग़ल् (वे) कालग़ल् (पैर-बहु०), परवय्-ग़ल् (चिड़ियाँ)

स्वर मध्य में अकेले आने पर यह अघोष कंठ्य संघर्षी होता है और इस स्थिति में द्वित्व व्यंजन से व्यतिरेक में आता है।

आख़ (होने के लिए), आक्क (बनाने के लिए)

आख़ु (होना), आक्कु (बनाना)

इस कारण अब हमें ऊपर के कथन में थोड़ा परिवर्तन करना होगा अन्यथा ख़् तथा क्: दो अलग स्वनिम बन जाते हैं। वितरण वर्णन यों करेंगे कि । क । स्वर मध्य में या तो स्पर्श द्वय रहता है या अघोष कंठ्य संघर्षी जैसे—मख़न् (बेटा), मुरुख़न् (कार्तिकेय), सिख़प्पु (लाल), वख़ु (Substract) और पख़ल् (दिन)

अँग्रेज़ी की स् और ज़् ध्वनिग्रों के समान इन दोनों संस्वनों का वितरण भी सुनिश्चित नहीं है। इन्हीं शब्दों में घोष ग़् का प्रयोग भी स्वाभाविक है। हो सकता है कि संघर्ष और घोषत्व की कई मात्राओं के कारण इनमें और भी भेद हो सकें। यह अपने में अलग अध्ययन है और इसमें पुनः चिन्तन और परीक्षण की आवश्यकता है।

। इ । और । ई । के बाद के । क । का उच्चारण तालव्य संघर्षी क़् है। इसका भी संघर्ष कम ही होता है।

उदा०—वाक़ीसन् (वागीश), सक़िक्क (सहने के लिए)

तथा आक़ि (होकर)—आक्कि (बनाकर)

यह ध्वनि जर्मन तथा जापानी भाषाओं में पाई जाती है। इसका उच्चारण कहीं-कहीं अँग्रेज़ी के 'hue' शब्द में (ह् ध्वनि के समान) हो जाता है।

1 : 22. अनुनासिक व्यंजनों में । न । के दो विभिन्न संस्वन मिलते हैं। पर लेखन-पद्धति में प्रयुक्त दो लिपि चिह्नों के कारण कई विद्वान दो स्वनिमों की उपस्थिति की गलत धारणा रखते हैं। वास्तव में ये दोनों वर्ण भाषा के पूर्व काल के दो स्वनिमों के चिह्न थे, पर आज एक ही स्वनिम के प्रतीक हैं। न् वर्ण स्पर्श ध्वनियों के पहले आती है और अपने साथ अघोष त् को घोष कर देती है। जैसे—अवन्+तान—अवन्दान्। अन्यत्र यह वर्त्स्य ध्वनि ही है।

आधुनिक तमिल भाषा में तालव्य और कंठ्य अनुनासिक व्यंजनों का उपयोग सीमित है। ये दोनों ध्वनियाँ सवर्ण स्पर्श ध्वनियों के पहले आती हैं तो स्पर्श को घोष कर देती हैं।

1 : 23. तमिल की य् र् ल् व् ध्वनियाँ हिन्दी की ध्वनियों के समान ही हैं। इनमें र् ल् शब्दारम्भ में न आती थीं और इनके पहले पूर्व श्रुति का प्रयोग होता था।

जैसे—इलक्कणम् (लक्षण)—व्याकरण, उरुवम्—रूप

पर आधुनिक भाषा में उधार लिये कई शब्दों के आरम्भ में इनका प्रयोग होता है। जैसे—लाड़म् (नाल), रयिल् (ट्रेन) आदि।

व् ध्वनि शब्द के अन्त में नहीं आती।

उदा०—पाय् (चटाई), पार् (देखो), पाल् (दूध) पर पावम् (पाप)

1 : 24. तमिल की दो विशिष्ट ध्वनियाँ ळ् और ष़् हैं।

ळ् मूर्धन्य पार्श्विक है और यह दक्षिण की सारी भाषाओं में, गुजराती, मराठी तथा उड़िया में पाई जाती है। यह शब्द के मध्य में अकेले या द्वित्व में आती है, शब्द के अन्त में आती है, पर शब्दारम्भ में नहीं आती।

उदा०—नाळ् (दिन), मुळय् (अंकुर), पळ्ळम् (गड्ढा) पळपळप्पु (चमक)

ष़्—यह सप्रवाह संघर्षहीन मूधर्न्य ध्वनि लगती है। इसका उच्चारण मूधर्न्य स्थान में बिना लुंठन के र् के उच्चारण करने से मिलता है जैसे—अमेरिकी मूर्धन्यीकृत र् या स्वरों का उच्चारण। कहीं-कहीं हिन्दी (उर्दू) की र् ध्वनि—(ख़बर, मगर, जिगर आदि शब्दों में) शब्दान्त में इसका उच्चारण होता है। इसका द्वित्व रूप नहीं मिलता, न यह शब्दारम्भ में आती है।

उदा०—पष़म् (फल), कूष़् (माँड़), वष़वष़प्पु (चिकनाहट)

2 : 0. तमिल के स्वनिम :

स्वर-विवेचन में यह बताया जा चुका है कि इं उं और ऐं को छोड़कर अन्य सभी स्वर स्वनिमिक हैं। व्यंजनों में स्वनिम निर्धारण का प्रश्न कुछ जटिल है। व्यंजन ध्वनियों में पाँचों स्पर्श, अनुनासिक और य्, र्, ल्, व् ळ् और ष़् आते हैं।

स्पर्श ध्वनियों के सभी रूपों एवं उनके स्थानों का उल्लेख पहले ही हो चुका है। उसी प्रकाश में यहाँ स्वनिमों का वर्णन करें।

। क । के पाँच संस्वन हैं—क् ग् ख़् ग़् और क़्

। त । के तीन संस्वन हैं—त् द द़्

। ट । के तीन संस्वन हैं—ट् ड् ड़्

। च । के दो संस्वन हैं—च् स्

। प । के चार संस्वन हैं—प् ब् व़् और व़्

इन संस्वनों में व़् द्वि-स्वनिमात्मक है। अर्थात् यह अपने में स्वनिम होते हुए भी किन्हीं स्थलों पर प् या ब् से मुक्त परिवर्तन में आती है। इस कारण इसे । प । का एक सदस्य भी मान सकते हैं।

उदा०—व्यतिरेक पाल् (दूध) वाल् (पूँछ)

मुक्त परिवर्तन—पाव़म्～पावम् (पाप)

पषक्कम्～वषक्कम्—(आदत)

। य ।, । ल ।, । ल़ । और । ष़ । एक संस्वनिक स्वनिम हैं।

2 : 1. स्वनिम निर्धारण में हमें कठिनाई अनुनासिक व्यंजनों के कारण होती है। तीन व्यंजनों में स्पष्ट रूप से व्यतिरेक मिलता है।

उदा०—सामी (स्वामी, मालिक) मामी (मामी) पनि (सर्दी, ओस)
साणी (गोबर) मानी (स्वाभिमानी) पणि (कार्य)

इससे यह सिद्ध होता है कि ये तीनों ध्वनियाँ स्वनिम हैं। तमिल की नव विकसित ध्वनियों में अनुनासिकता भी है जिसके होने के बावजूद तमिल भाषी अनुनासिकता का यथेष्ट उच्चारण करने में कठिनाई का अनुभव करता है। जहाँ शब्द के अन्त में न् म् आती हैं, वहाँ उनका लोप हो जाता है और अनुनासिकता उनका स्थान ले लेती है।

उदा०-- मरम्→मरौँ (पेड़) सोन्दम्→सोन्दौँ (निजी)
पय्यन्→पय्यँ (लड़का) बन्दान्→वन्दाँ (आया)
व्यतिरेक—वन्दाँ—(लड़का) आया वरेँ—(मैं) आता हूँ।
वन्दा—(लड़की) आई वरे (तुम) आते हो।

इस व्यतिरेक से सिद्ध होता है कि तमिल में अनुनासिकता स्वनिम है। पर यह द्वि-स्वनिमात्मक ध्वनि है, क्योंकि यह एक ही समय दो विशिष्ट स्वनिम । न । और । म । का संस्वन बनती है। इसे किस स्वनिम का अंग मानें, यह विवादास्पद है। मेरा मत है कि ये दोनों रूप एक होते हुए भी इनमें एक भेद ज़रूर है।-अन्,-आन् के अन्तिम न् के लोप होने पर पूर्वस्थ स्वर बदलता नहीं है, पर-अम् में म् के लोप के साथ अ अर्धविवृत ह्रस्व पश्च स्वर औँ में परिवर्तित हो जाता है (उदाहरण देखें)। इसलिए अनुनासिकता को उसके पहले के स्वर के साथ ही लेकर अलग स्वनिमों का निर्धारण करना

समीचीन होगा । पर यह पूर्णतया सफल प्रयोग नहीं हैं, क्योंकि अन्य स्वरों के साथ अनुनासिकता का पूरा विवरण भी प्राप्य नहीं है ।

2 : 2. इसी प्रकार तालव्य तथा कंठ्य अनुनासिकों की स्थिति भी निश्चित नहीं हैं । भले ही स्वतन्त्र रूप से इनका प्रयोगन मिलता हो, पर किन्हीं बोलियों में, मध्यक्षेत्र में तथा सम्बद्ध भाषण में इनका प्रयोग होता है ।

सम्बद्ध भाषण में—उङ्ग+अप्पन्—ङोप्पन् (तुम्हारा पिता) । स्वर मध्य में ङ का द्वित्व भी मिलता है । अङ्ङनम—उस प्रकार ।

तालव्य ञ् का प्रयोग अधिक विशाल है । यह सीमित शब्दों में स्वतन्त्र रूप से आती है और द्वित्त्व में भी ।

जैसे ञायर् (इतवार), ञायम् (न्याय), ञानम् (ज्ञान), अञ्ञानम् (अज्ञान)

सेलम ज़िले में इसका प्रयोग ही नहीं होता । कई जगह यह ध्वनि क्रमशः नायर्, नायम्, ग्यानम्, अग्यानम्—इन शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियों से स्थानापन्न हो जाती है । इसलिए इन दोनों व्यंजनों का स्वनिम होना संदिग्ध ही है । सो इन्हें संस्वन मान लें, तो व्यावहारिक दृष्टि से । न । के ही सदस्य मान सकते हैं ।

। न । के पाँच संस्वन हैं—न् ऩ् म् ञ् और ँ

। म । के दो संस्वन है—म् और ँ

। ण । एक संस्वनिक स्वनिम है ।

2 : 3. ऱ् एक ध्वनि है जिसका स्वनिमिक निर्धारण । न । की अपेक्षा अधिक जटिल है । एक ऱ् ध्वनि जो पहले वर्त्स्य अघोष ध्वनि थी, अब उच्चारण परिवर्तन के कारण लुंठित र् के साथ एकमेव (merge) हो गई है । परन्तु प्रायः हर जगह प्रतीयमान व्यतिरेक के मिलने के कारण ध्वनि विज्ञानी तमिल में दो र् स्वनिमों की कल्पना करते हैं ।

उदाहरण—	करी । करी । सब्जी	मर । मर । भूलना
	कऱी । करी । कोयला	मऱ । मर । सुन्न होना

2 : 31. ध्वनि विज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि एक ही ध्वनि दो विभिन्न स्वनिम हो नहीं सकती, भले एक ही ध्वनि दो या अधिक स्वनिमों के संस्वन बन जाए । ध्वनि परिवर्तन तथा विकास के कारण हुए इस उलझन का दृष्टान्त हमें अँग्रेज़ी में भी मिलता है । मध्य युग में शब्द में आने वाले ए का लोप हो गया और वह तब वर्तमान ई में एकीभूत हो गया ।

उदाहरण—Sea । से । समुद्र→सी

Meat । मेत् । माँस, खाद्य→मीत्

इस कारण पहले व्यतिरेक में आने वाले शब्द अब एक ही उच्चारण में आते हैं, जिससे इनके स्वनिम निर्धारण में कठिनाई हो सकती है।

जैसे । सी ।—समुद्र, देखना । मीत् ।—माँस, मिलना।

पर अँग्रेज़ी में इनको दो स्वनिम नहीं माना जा सकता, पर इस शब्द को ही दो अलग पदिम माना जाता है।

2 : 32. इसी के आधार पर हम तमिल के दोनों व्यच्छेदक र् ध्वनि चिह्नों से बने शब्दों को एक ही ध्वन्यात्मक परिवेश में स्थित दो पदिम मान लें और एक स्वनिम । र । को ही स्वीकार करें, तो उचित होगा।

पर । र । के पहले स्पर्श ध्वनि होने के कारण और भी समस्याएँ आती हैं। हमें इसका द्वित्व रूप भी मिलता है तथा न्र् का गुच्छ भी। सामान्य बोलचाल की भाषा में इन गुच्छों का प्रयोग नहीं होता और ये समीकृत या लुप्त हो जाते हैं।

जैसे काररु (हवा)—कात्तु, मुर्रम् (आँगन)—मुत्तम

पन्री (सुअर)—पन्नी मून्रु-मूण्णु (तीन)

मलयालम में भी प्रायः इसी प्रकार का परिवर्तन दिखाई पड़ता है। रर-वर्त्स्य स्पर्श तत में परिवर्तित हो गया और न्र—न्न् में

उदाहरण—कात्तु (हवा) मुत्तम (आँगन) पन्नी (सुअर)

2 : 33. पर तमिल भाषा अभी इन आरोपित ध्वनियों से छुटकारा ले नहीं पाई है। साहित्यिक स्तर पर आने वाले कुछ शब्दों में इस प्रकार का बोलचाल का रूप नहीं मिलता। जैसे

वेॅर्री । वेत्री ।—जीत मन्रम् । मन्रम् ।—सभा

इन दोनों व्यंजन-गुच्छों का कहीं विभाजन नहीं होता। इस कारण अँग्रेजी की tr आदि स्पर्श संघर्षियों की तरह इन्हें भी गुच्छ के रूप में ही लेकर । र । का सदस्य माना जा सकता है।

जैसे—tree, Henry, Manroe.

इन शब्दों में ध्वनि-साम्यीकरण (Similitude) के कारण न्र् ध्वनि न्द्र् के समान सुनाई पड़ती है। पर वास्तव में यह न्र् का ही गुच्छ है।

2 : 4. तमिल की एक और ध्वनि है ∴ जो विसर्ग की तरह मानी जाती

है। इसका कहीं स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं है और न आज इसका एक से अधिक शब्दों में प्रयोग ही है।

उदाहरण—एँ ∴ ख़ु—फ़ौलाद

दूसरा शब्द क ∴ सु (संडास) अब समीकृत होकर कक्कूस् बन गया है। इस ध्वनि का ठीक विवेचन नहीं हुआ है। यहाँ यह ध्वनि ख् को द्वित्व करने मात्र का काम करती है।

जैसे एँख्खु

2 : 5. इस प्रकार तमिल के कुल स्वनिम यों हैं :—

। अ इ उ एँ ओँ मात्रा

क च ट त प न ण म य र ल व ल़ ष्।

3 : 0 संस्कृत तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं के निकट संपर्क के कारण तमिल में कई नई ध्वनियाँ विकसित हुईं। भाषा विज्ञानियों का मत है कि घोष ध्वनियाँ आर्य भाषाओं के प्रभाव के कारण ही तमिल में आईं। ऊपर दी गई वितरण-पद्धति के विरुद्ध जब ये ध्वनियाँ प्रयुक्त होने लगीं तब इनकी स्वनिमिक प्रतिष्ठा हुई। सामान्य रूप से केवल अनुनासिक व्यंजनों के बाद ही इनका प्रयोग होना चाहिए, पर आधुनिक भाषा में इनका वितरण विशाल है।

जैसे । ब ।—बलम् (शुरू में) डब्बा (द्वित्व)

व्यतिरेक—पलम् (तीन तोले) बलम् (बल)

। द । दरिद्दिरम् (शुरू में, द्वित्व में)

। ड । डब्बा, डबरा (वर्तन)-शुरू में। लड्डु (द्वित्व)

। ज । जन्नल् (खिड़की)—शुरू में, बज्जी (एक चाट)—द्वित्व

। ग । गब्नम् (गौर)--शुरू में, सोर्गम् (स्वर्ग)—द्वित्व

व्यतिरेक-कुण्डु (एक तौल) गुण्डु (गोली)

इस प्रकार ये पाँचों नव विकसित स्वनिम हैं। पर इनका पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ है। कहीं-कहीं ये ध्वनियाँ देशी ध्वनियों से स्थानापन्न हो जाती हैं।

जैसे—सन्नल्, डप्पा, लट्टु, तरित्तिरम्, सोक्कम् आदि।

3 : 1. तालव्य श— यह भी संस्कृत से तमिल में आई हुई एक नई ध्वनि है।

जैसे—कश्टम् (कष्ट), शण्मुखम् (षण्मुख), उशा आदि ।

तमिल से तालव्य संघर्षी को ही स्वीकार किया और मूर्धन्य को नहीं । यह ध्वनि भी, संदर्भ के अनुसार ट् या स् ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है ।

जैसे—कट्टम् या कट्टम्, सण्मुखम् आदि ।

3 : 2. तमिल ने संस्कृत स्वर ऋ को भी स्वीकार नहीं किया । ऋकार शब्दों को तमिल में रि या रु अक्षरों से लिखा जाता है । मराठी तथा अन्य द्रविड़ भाषाओं की तरह तमिल में भी ऋ का उच्चारण र्+मध्य स्वर इ से हो जाता है ।

उदाहरण—अम्रिदम् (अमृत) रिशी (ऋषि) रिग्वेदम् (ऋग्वेद) और प्रख्रिदी (प्रकृति)

3 : 3. तमिल ने काकल्य ह् को भी स्वीकार नहीं किया । जहाँ उधार के शब्दों के आरम्भ में ह् आती है, वहाँ उसका लोप हो जाता है ।

जैसे—अनुमान् (हनुमन); अमीद (हमीद)
अल्वा (हलुआ) इन्दी (हिन्दी)
ओसूर (होसूर) एट्टु (Head)—दारोगा

शब्द के बीच में आने वाली ह् असल में कंठ्य या तालव्य संघर्षी हो जाती है ।

उदाहरण—मखा (महा) मेखम् (मेह) मख़िमय् (महिमा)

3 : 4. अन्य भाषाओं से फ़्, ज़्, ध्वनियाँ तमिल में नहीं आईं । फ़् पहले प् में परिवर्तित हो जाती है और फिर भाषा की वितरण-पद्धति के अनुसार अपने अन्य संस्वनों में परिवर्तित हो जाती है ।

उदा० कॉफी→काप्पी फ़िड्ल्→पिडिल्
कफ़→कपम्→कवम्
सौंफ़→सोम्बु मार्फ़त→मारुवम्

ज़् सामान्य रूप से स् या ज् में परिवर्तित हो जाती है ।
रेज़र् (razor)→रेसर् बाज़ार→वजार

इन्हें छोड़ अन्य कोई बाहरी ध्वनि तमिल में नहीं आई ।

4 : 0 **आक्षरिक गठन तथा व्यंजन गुच्छ :**

तमिल के ध्वन्यात्मक गठन में हमें निम्नलिखित अक्षर मिलते हैं ।

*स—ई (मक्खी)
*व स—पू (फूल)
व स व—क ल् (पत्थर)
व स व व—पार्क् (क)—देखने के लिए
स व—उन् (तुम्हारा)
स व व—उप् (पत्ति)—उत्पत्ति

4 : 1. इनके अलावा उधार लिए शब्दों के साथ आक्षरिक प्रणाली भी आई। ये सभी नए अक्षर अब भाषा के अभिन्न अंग बन गए हैं।

उदा० व व स—स्टे (शन)
व व व स—स्त्री

इन अक्षरों में व स तथा व स व भाषा-गठन में अधिक प्रयुक्त हैं।

4 : 2. तमिल के ध्वन्यात्मक गठन में व्यंजन गुच्छों का स्थान सीमित है। इसी कारण उधार लिए शब्दों में स्वरभक्ति का प्रयोग अधिक होता है।

उदा० प्र्—पिरेमय् (प्रेम) ध्य्—दियानम् (ध्यान)
घ्र्—सीग्गिरम् (शीघ्र) ट्य्—नाट्टियम् (नाट्य)

4 : 3. इन गुच्छों में द्वित्व का स्थान महत्त्वपूर्ण है। र् और ष् को छोड़कर अन्य सभी ध्वनियाँ द्वित्व में आती हैं। प्रायः शब्दारंभ या अन्त में गुच्छ नहीं होता। न तो कहीं तीन से अधिक व्यंजनों का गुच्छ मिलता। गुच्छ में आने वाली ध्वनियों में प्रमुख रूप से य् र् ल् तथा ष् हैं। इनके साथ प्रायः सभी स्पर्शों का द्वित्व भी मिलता है।

उदा० य्-वाय्क्काल, पाय्च्चु, वाय्प्पु तथा वाय्मय्
र्—तीप्पु, पार्क्क, अर्च्चनय्, अर्त्तम्, पर्दा, कार्गल् (कारें)
ल्—पाल्क्कारन्, पुल्त्तरय्
ष्—वाष्त्तु, ताष्प्पाल्, ताष्मय्, ताष्वु आदि।

4 : 4. अनुनासिक ध्वनियाँ अपने ही वर्ग की स्पर्श ध्वनि के साथ आती हैं। पर इनमें और ध्वनियों के साथ गुच्छ भी मिलते हैं।

---

* स-स्वर व-व्यंजन

न्ब्-इन्बम् (सुख) न्र्-मन्रम् न्म्-नन्मय् (कल्याण) ण्म-वेॅण्मय् (सफ़ेद)

आधुनिक भाषा में उधार लिए हुए शब्दों के कारण कई प्रकार के गुच्छ विकसित हुए हैं।

जैसे--स्री (श्री), स्टेशन्, स्कूल, पुस्तखम्, स्त्री
कश्टम्, वर्शम् (वर्ष), पसु॔ आदि।

4 : 5. पर इन गुच्छों का अध्ययन एक सीमित दायरे में हो नहीं सकता। यह भी अपने में अलग विषय है। जहाँ लिखित तथा शिष्ट भाषा में अन्य गुच्छों का प्रयोग नहीं मिलता, शीघ्रोच्चरित भाषा में या अशिष्ट (Slang) भाषा में तथा विदेशी भाषाओं के उधार शब्दों में अत्यधिक गुच्छ मिलते हैं।

जैसे सीग्रम् (शीघ्र), दरिद्रम्
अशिष्ट भाषा--अल्टाप्पु, वाद्यार
उधार शब्द--ब्रेक्कु (Brake), ट्राक्टर, प्ले़ट्टु, स्पुट्निक्कु
इस प्रकार के कई अन्य गुच्छ भी सम्भव हैं।

व्यंजन	द्वयोष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य और वर्त्स्य	मूर्धन्य	[illegible]र्स-[illegible]लव्य
स्पर्श — अल्प प्राण	प ब		त द	ट ड	
स्पर्श — महा प्राण	फ भ		थ ध	ठ ढ	
अनुनासिक	म	[illegible]	न	ण	
पार्श्विक			ल	ळ	
पार्श्विक संघर्षी			ल़ ल्		
लुंठित			र		
उत्क्षिप्त			ऋ	ड़ ढ़	
लुंठित संघर्षी			ऱ्		
संघर्षी	प़ ब	फ़ व़	त़ द़ । स ज़ । र	ष क्ष	[illegible]
संघर्षहीन सप्रवाह और अर्ध स्वर	व़ । [illegible]	व	र		

स्वर	वृत्तमुखी
संवृत	(ई ‿ उ ऊ)
अर्ध संवृत	(ए ओ)
अर्ध विवृत	(ऐ औ)
विवृत	(आ)

नोट:

१. स्वतंत्र रूप से व्यंजनों का उल्लेख [illegible]लन्त के साथ लिखा जाए तथा स्वनिम का [illegible]ा के ही किया जाए ।

२. स्वरों के ह्रस्व रूप कोष्ठको में दिए [illegible]

३. इन ध्वनियों को मात्रा सहित मिलाकर [illegible]ाए जैसे नागरी लिपि लिखी जाती है ।

४. वर्त्स्य ध्वनियां नीचे – जोड़कर लिखी [illegible] दन्त्य न् इस प्रकार से लिखा जाए ।

उर्मिला कुमारी

*

शिवरानी देवी जी की कहानियाँ

श्रीयुत प्रेमचन्द की भाँति उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने भी अनेक कहानियों की रचना करके हिन्दी-कथा-साहित्य की गौरव-वृद्धि की है। यों तो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में अब तक उनकी अनेक कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं, किन्तु पुस्तकाकार रूप में अब तक उनके केवल दो संग्रह उपलब्ध हैं—कौमुदी[1] और नारी-हृदय[2]। इन दोनों में सोलह-सोलह कहानियाँ संकलित हैं जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

कौमुदी—तर्का, विध्वंस की होली, जीवन, विधवा, आँसू की दो बूँदें, चोर, नर्स, सिंदूर की रक्षा, निराला नाच, विश्वास, विमाता, पछतावा, ऋण, नमक का ऋण, हत्या, अनोखा ब्याह।

नारी-हृदय—नारी-हृदय, करनी का फल, साहस, बूढ़ी काकी, विजय, माता, वरयात्रा, हत्यारा, सच्ची सती, सौत, गिरफ्तारी, कुरबानी, समझौता, जेल में, आंसू, वधू-परीक्षा।

इनमें से अधिकांश कहानियाँ 'हंस', 'विश्वामित्र' आदि प्रख्यात पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। इनके अतिरिक्त उनकी ये कहानियाँ भी उल्लेखनीय हैं—कामना[3], आत्मा[4], पछतावा[5], यशोदा[6], कप्तान[7], पुनर्मिलन[8],

---

1. प्रथम संस्करण, सन् 1937, सरस्वती प्रेस, बनारस
2. द्वितीय संस्करण, प्रेमचन्द गृह, बनारस
3. युगान्तर, सितम्बर 1932, पृष्ठ 12-15
4. चांद, मई 1938, पृष्ठ 25-30
5. चांद, जुलाई 1940, पृष्ठ 105-108
6. कहानी, दिसम्बर 1940, पृष्ठ 238-241
7. कहानी, सितम्बर 1941, पृष्ठ 867-871
8. कमला, जुलाई 1941, पृष्ठ 326-330

वनदेवी[1], रमिया[2], शादी[3], सम्पादक के पांच दिन[4], कर्त्तव्य[5], राष्ट्र की बलि[6], हार का मूल्य[7], राशन[8]। उनकी कहानी-कला का मूल्यांकन करने के लिए हमने उक्त कथा-संग्रहों के अतिरिक्त इन स्फुट कहानियों को भी ध्यान में रखा है।

कथानक

विषयवस्तु की दृष्टि से शिवरानी जी की कहानियों को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(अ) पारिवारिक अथवा सामाजिक कहानियाँ, (आ) सामयिक, राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित कहानियाँ। उनकी अधिकाँश कहानियाँ प्रथम वर्ग की हैं, जिनमें पारिवारिक जीवन के विविध दृश्यों की सहज अभिव्यक्ति मिलती है। पुरुषों के अत्याचारों और समाज की विभिन्न कुरीतियों (वृद्ध-विवाह, बहुविवाह, दहेज-प्रथा आदि) के संदर्भ में नारी की समस्याओं एवं निष्क्रिय अथवा सक्रिय प्रतिक्रियाओं का चित्रण उक्त कहानियों का मूल विषय रहा है। पारिवारिक जीवन के विविध संघर्षों, उतार-चढ़ावों, स्नेह-सम्बन्धों और सेवा, तप, त्याग, घृणा, ईर्ष्या, स्वार्थ, छल, प्रतिशोध आदि विविध भावों से अनुप्राणित अनुभूतियों के चित्रण में आलोच्य लेखिका को आशातीत सफलता मिली है। लेखिका ने सुखी गार्हस्थ्य जीवन का मुख्य श्रेय प्रायः नायिकाओं को दिया है—नारी-हृदय, पछतावा, विमाता, सच्ची सती, विजय, ऋण, कप्तान, विश्वास आदि कहानियाँ उक्त तथ्य की प्रत्यायक हैं। निराला नाच, अनोखा ब्याह तथा सम्पादक के पांच दिन शीर्षक सामाजिक कहानियों में हास्यरसपूर्ण घटनाओं की सुन्दर योजना की गई है।

शिवरानी जी की राष्ट्रीय कहानियाँ प्रायः दो प्रकार की हैं। एक तो वे,

---

1. कहानी, मार्च 1941, पृष्ठ 477-480
2. कहानी, नवम्बर 1941, पृष्ठ 166-170
3. कहानी, फरवरी 1942, पृष्ठ 349-356
4. कहानी, मई 1942, पृष्ठ 573-576
5. कहानी, दिसम्बर 1942, पृष्ठ 157-161
6. विश्वमित्र, सितम्बर 1944, पृष्ठ 28-31
7. विश्वमित्र, जुलाई 1946, पृष्ठ 19-21
8. विश्वमित्र, जनवरी 1947, पृष्ठ 43-44

जिनमें हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर बल दिया गया है और दूसरी वे, जिनमें सम-कालीन राजनीति का सक्रिय वर्णन है। कुरबानी, सिन्दूर की रक्षा तथा हार का मूल्य शीर्षक कहानियों में नायिकाएँ आत्मबलि देकर अथवा अपने साहस एवं शौर्य के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम-द्रोह को शान्त करके संगठन का बीजवपन करती हैं। दूसरे वर्ग की कहानियों के पात्रों ने अँग्रेजी-सरकार के विरुद्ध आन्दोलनों में भाग लिया है, फलतः उन्हें लाठीचार्ज, कारावन्धन और शासन के दमन-चक्र का शिकार होना पड़ा है। माता, हत्यारा, गिरफ्तारी, जेल में, यशोदा तथा राशन शीर्षक कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। 'राशन' शीर्षक कहानी में स्वातन्त्र्योत्तर भारत में राशन-प्रणाली के कुप्रबन्ध, रिश्वत, ब्लैक, भ्रष्टाचार की वृद्धि, निर्धनों की दुरवस्था आदि का चित्रण हुआ है। वस्तुतः लेखिका ने आत्मा, राशन तथा राष्ट्र की बलि शीर्षक गल्पों में प्रगतिवादी विचारधारा का आश्रय लेते हुए पूँजीवादी शोषण की निन्दा की है और सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूतिपूर्ण भावों को व्यक्त किया है।

प्रेमचन्द जी की भाँति शिवरानी देवी ने भी ग्राम्य जीवन के सहज कथा-चित्र अंकित किये हैं। 'कौमुदी' की अधिकांश कहानियाँ (तर्का, चोर, विमाता, ऋण, विध्वंस को होली, जीवन, विधवा, हत्या, सिंदूर की रक्षा आदि) इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों में कथावस्तु की सहजता और वर्णन-शैली के साम्य के आधार पर यह शंका हो सकती है कि कहीं ये प्रेमचन्द-विरचित तो नहीं हैं, किन्तु यह भ्रामक है। इस विषय में प्रेमचन्द जी द्वारा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रति 13-2-1933 को लिखे गए एक पत्र से यह उद्धरण द्रष्टव्य है—"अभी तक साहित्य जगत् ने उनके साथ न्याय नहीं किया, क्योंकि मेरा व्यक्तित्व उनके व्यक्तित्व को ढक लेता है—शायद कुछ आदमी सोचते हों कि उनकी रचनाओं का वास्तविक लेखक मैं ही हूँ। मैं इन्कार नहीं करता कि उन रचनाओं में साहित्यिक सजावट मेरी है, लेकिन विचार और लेखन सर्वथा उन्हीं के होते हैं। उनकी प्रत्येक लाइन में एक ओजपूर्ण स्त्री का व्यक्तित्व प्रकट होता है। मेरे जैसा, शान्त स्वभाव का आदमी इस प्रकार की दबंग औरतों के प्लाटों की कल्पना भी नहीं कर सकता"।[1]

इस उक्ति के आधार पर शिवरानी जी की कहानियों में वस्तु की मौलिकता

---

1. आजकल, नवम्बर 1953, पृष्ठ 14 तथा 45

स्वयं सिद्ध है । उन्होंने रोचकता, औत्सुक्य और प्रभावान्विति की ओर प्रायः सभी कहानियों में ध्यान दिया है । नारी को अधिकार-सजग दिखाने की भावना से उन्होंने कतिपय प्रसंगों में भावुकतावश पूर्वाग्रही चित्र भी अंकित किए हैं (जो कहीं-कहीं कृत्रिम प्रतीत होते हैं), किन्तु सामान्यतः उनकी कहानियों में स्वाभाविकता और तथ्यानुसरण का अभाव नहीं है ।

चरित्र-चित्रण

शिवरानी देवी की कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं, कथानक तथा अन्य तत्व उसके समक्ष गौण हो गये हैं । उन्होने पुरुष-पात्रों की अपेक्षा नारी-पात्रों को अधिक महत्व दिया है, अतः उनकी कहानियों को नायिका-प्रधान मान लिया जाए तो उचित ही होगा । उन्होंने अपनी प्रतिनिधि नायिकाओं को विशेष ओजस्वी व्यक्तित्व प्रदान किया है । वे समाज के अन्याय अथवा पुरुषों के अत्याचारों को मौन भाव से ग्रहण नहीं करतीं, अपितु उचित अवसर पाकर उनका सक्रिय विरोध करती हैं । 'करनी का फल' का नायक मोहन ठाकुर अमरसिंह की पुत्री क्रांति पर कामुक दृष्टि डालता है, तो वह भी अपनी सखी की सहायता से उसकी नाक काट कर करनी का उचित फल चखाती है । 'साहस' की पार्वती और 'शादी' की प्रतिभा के पिता दहेज न जुटा पाने के कारण अपनी पुत्रियों के लिये वृद्ध वर खोजते हैं, तो पार्वती और प्रतिभा मौन भाव से अपने को बलि का बकरा नहीं बनने देतीं, अपितु विवाह के समय क्रमशः भावी वर को जूते लगाकर और खरी-खोटी सुना कर विदा कर देती हैं । 'आँसू की दो बूँदें' में कनक और 'नर्स' में क्षमा दहेज के लालची कापुरुष युवकों के साथ ज्यों-का-त्यों व्यवहार कर उन्हें उचित दण्ड देती हैं । 'वधू-परीक्षा' की निर्मला यह सहन नहीं करती कि उसका भावी पति उसके रूप की प्रदर्शनी देखकर तब उससे विवाह करे । अतः जब गंगाप्रसाद उसे पसन्द कर अपनी स्वीकृति दे देता है, तो वह उसे अस्वीकार कर यह सिद्ध कर देती है कि नारी पुरुष से किसी प्रकार भी कम नहीं है । 'समझौता' की नायिका ललिता पति के समक्ष विभिन्न तर्क-वितर्क प्रस्तुत करके नारी के समानाधिकारों को सिद्ध करती है और अन्त में मोहन को पत्नी की विचारधारा से सहमत होना ही पड़ता है । 'पुनर्मिलन' का नायक यदुनाथ जब अपनी पत्नी को कुरूपा कहकर मायके भेज देता है तब उसकी सातों बहिनें भी यह कहकर उसके घर आ बैठती हैं कि हम भी अपने कुरूप पतियों के घर नहीं रहेंगी । नारी-जाति के प्रतिकार का यह अद्भुत रूप देखकर अन्ततः यदुनाथ को परास्त होना पड़ता

है। उनकी अधिकांश कहानियों में नारी की अधिकार-रक्षा के लिए इसी प्रकार के कथानकों का संयोजन किया गया है।

उक्त विवेचन का यह तात्पर्य है कि शिवरानी देवी ने केवल विद्रोहिणी पात्राओं की ही सृष्टि की है। नारी-हृदय, सच्ची सती, विजय, ऋण, विध्वंस की होली, जीवन, विश्वास, विधवा, हत्या, विमाता, पछतावा, कप्तान, रमिया, कामना, तर्का, कर्त्तव्य आदि अनेक कहानियों में लेखिका ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप नारी को सहनशीला, क्षमाशीला, पतिपरायणा, सेवामयी, परदुःख-कातरा, कर्त्तव्यपरायणा, त्यागमयी आदि विभिन्न उज्ज्वल रूपों में चित्रित किया है। उदाहरणार्थ 'नारी-हृदय' की प्रभा अपने प्रियतम की उपेक्षा के फलस्वरूप घुल-घुल कर प्राण दे देती है, किन्तु उनके प्रति अन्त तक भी मन में मैल नहीं लाती, 'विजय' की मालती अपने वेश्यागामी पति की रुग्णावस्था में प्राणपण से उनकी सेवा करती है, 'सच्ची सती' की रूपकुमारी अपने सुख-दुःख की चिन्ता न करके पति तथा उसके सम्बन्धियों को प्रसन्न रखना अपना प्रमुख उद्देश्य मानती है, 'जेल में' की गंगा अपने खूनी पति के अपराध को स्वेच्छा से अपने सिर पर ओढ़ कर स्वयं जेल-यातना सहती है, किन्तु पति पर आँच नहीं आने देती, आदि। वस्तुतः आलोच्य लेखिका ने भारतीय नारी के चरित्र के प्रत्येक पक्ष को अपनी नायिकाओं में साकार किया है, यहाँ तक कि उसके दोषों को भी अछूता नहीं छोड़ा। बूढ़ी काकी, सौत, आँसू, हत्या तथा जीवन शीर्षक कहानियों में विमाता, भाभी, सास अथवा ननद के रूप में नारी की हृदयहीनता के अनेक कटु चित्र अंकित किये गये हैं। 'विध्वंस की होली' की नायिका उत्तमा तथा 'जीवन' की नायिका सुखिया सुख-दुःख में समभाव का परिचय देकर भारतीय नारी के दार्शनिक व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करती हैं, तो 'विश्वास' की नायिका मायादेवी में भारतीय नारी की धर्म-सम्बन्धी दृढ़ आस्था मानो मुखर हो उठी है।

यों तो शिवरानी जी की प्रायः सभी कहानियों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पुरुष-पात्रों को स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु उनके चरित्रांकन में लेखिका ने पूर्वकथित सजगता का परिचय नहीं दिया। उनके पुरुष-पात्र या तो स्वार्थ, कायरता अथवा हठधर्मिता के कारण नारी-जाति को कष्ट देते हैं अथवा यदि अपवादस्वरूप कतिपय पात्र किसी दिशा में कोई उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत करते भी हैं, तो उसके मूल में किसी नारी के द्वारा दी गई प्रेरणा ही मुख्य रहती है। वस्तुतः शिवरानी जी की कहानियों में पुरुष-पात्रों की सृष्टि प्रायः पात्राओं

को विकसित करने के उपादान-रूप में हुई है। 'सच्ची सती' में राम शंकर, 'तर्का' में रामजस, 'नमक का ऋण' में बिहारी आदि बहुत कम पात्र ऐसे हैं, जिन्होंने दाम्पत्य प्रेम, भ्रातृ-प्रेम, स्वामि-भक्ति आदि कतिपय दिशाओं में अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किये हैं।

राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित कहानियों में भी पुरुषों की अपेक्षा नारियाँ कई पग आगे हैं। उदाहरणार्थ 'हत्यारा' की रामेश्वरी ने अपने घातक पुत्र को दण्ड दिलवा कर अनेक निर्दोष पुत्रों की माताओं को पुत्रहीना होने से बचा लिया। इसी प्रकार 'कुरबानी' में शान्ति तथा 'हार का मूल्य' में चन्दा ने आत्मबलि देकर हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य की ज्वाला को सदा के लिये शान्त कर दिया। 'यशोदा' की नायिका यशोदा ने देशभक्ति के क्षेत्र में अपने कर्मठ व्यक्तित्व का परिचय देकर अपने पति कुंअर रणजीतसिंह का भी मुख उज्ज्वल कर दिया।

आलोच्य लेखिका ने कुछ पात्रों में आदर्श की इतनी पराकाष्ठा कर दी है कि वे प्रायः देवोपम प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ 'तर्का' में रामजस के चरित्र में भ्रातृ-स्नेह की पराकाष्ठा है। इसी प्रकार 'नमक का ऋण' में सेवक बिहारी एवं 'बूढ़ी काकी' में सेविका काकी ने स्वामि-भक्ति के उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किये हैं। 'पछतावा' (जुलाई, १९४० के चांद में प्रकाशित) की सरूपा ने भी आदर्श वधु का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो सब प्रकार से ससुर की फटकार सह कर भी उनकी सेवा से विमुख नहीं हुई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन पात्रों ने चाहे कितने हो आदर्श गुणों को व्यक्त किया हो, इनके चरित्रों पर अस्वाभाविकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। वस्तुतः लेखिका ने मानव-जीवन को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित किया है, इसी कारण उनकी कहानियों में अनेकरूप चरित्र प्राप्त होते हैं।

कथोपकथन

विवेच्य लेखिका ने संक्षिप्त, भावानुकूल एवं सारगर्भित कथोपकथन का आयोजन करके पात्रों के भावों को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी आख्यायिकाओं में वर्णनात्मकता की अपेक्षा नाटकीयता का अंश अधिक रहा है। किन्तु संवाद कथा-प्रवाह में बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हुए हैं। यद्यपि कथोपकथन यथावसर सभी तत्वों के विकास में सहयोगी रहे हैं, तथापि पात्रों की मान्यताओं, भावनाओं, स्वभावगत प्रवृत्तियों तथा अन्य विभिन्न विशेषताओं के प्रकाशन में उनका योग सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ 'नमक का

ऋण' शीर्षक कहानी में बिहारी और उसकी पत्नी के सम्भाषण में बिहारी की निःस्वार्थ सेवा-वृत्ति का प्रकाशन देखिए।

एक दिन बिहारी की स्त्री जगिया आकर पति से बोली—तुम घर क्यों नहीं आते ? जब मालिक जीते थे, तब तो तुम रात को घर रहते थे और जब अब एक पैसा तलब नहीं मिलती, तब घर तुम्हारी सूरत तक नहीं दिखाई देती। बताओ घर का काम कैसे चले।

बिहारी बोला—घर का काम तुम चलाओ और तुम्हारा लड़का सयाना हो गया है, वह चलाए। मैंने जो नमक खाया है वह अदा कर रहा हूँ।[1]

शिवरानी जी की कहानियों में संवादों की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि भाव एवं अभिव्यंजना दोनों की दृष्टि से पात्रों के स्वभाव, संस्कारों एवं रहन-सहन के स्तर के अनुकूल हैं। 'समझौता' शीर्षक कहानी में, जिसकी रचना आद्यन्त संवाद शैली में हुई है, ललिता और मोहन का सम्भाषण इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।[2] लेखिका ने ग्रामीण पात्रों की उक्तियों में भाग(भाग्य), जनम, दोस, दरसन, परासचित, अकास ग्रादि तद्भव शब्दों को बहुत स्थान दिया है, तो मुसलमान पात्रों की उक्तियों में उर्दू-शब्दों की प्रचुरता रही है। ग्रामीण पात्रों की भाषा भी पात्रानुकूल भिन्न रही है; कुछ ग्रामीण पात्र नागरिक एवं ग्रामीण भाषा का मिश्रित रूप प्रयोग में लाते हैं, तो कुछ ठेठ ग्राम्य शब्दावली में वार्त्तालाप करते हैं। अभिप्राय यह है कि संवादों में विविधता, स्वाभाविकता एवं सजीवता के गुण सर्वत्र व्याप्त रहे हैं।

देशकाल

श्रीमती शिवरानी देवी ने अपनी कहानियों में सामयिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का अंकन करने में विशेष जागरूकता का परिचय दिया है। रामकालीन समाज की विविध अस्वास्थ्यकर प्रवृत्तियों (वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा का निराश्रित जीवन, जमींदारों अथवा पूँजीपतियों द्वारा कृषकों अथवा श्रमिकों का शोषण, सम्मिलित-परिवार के छिद्र, पुरुष द्वारा नारी के अधिकारों की अवेहलना आदि) के प्रति उनकी दृष्टि पूर्णतः सजग रही है और उन्होंने उनके समाधान की दिशा में भी उचित संकेत दिए हैं। लेखिका का यह

---

1. कौमुदी, पृष्ठ 194.
2. देखिए 'नारी-हृदय', पृष्ठ 120-126

दृढ़ विश्वास है कि अन्याय के प्रति सिर झुकाने से (चाहे अन्यायकर्त्ता व्यक्ति हो अथवा समाज) उसका प्रतिकार सम्भव नहीं। इसी कारण उन्होंने पीड़ित वर्ग (नारी अथवा सर्वहारा वर्ग) के पक्ष में सक्रिय विरोध पर बल दिया है।

उक्त सामाजिक समस्याओं की भाँति देश की समकालीन राजनीतिक स्थिति के चित्रण की ओर भी लेखिका ने यथोचित ध्यान दिया है। देश की सामयिक संघर्षशील परिस्थितियों से निरपेक्ष रहकर प्रेम अथवा वासना के कल्पना-प्रसूत रंगीन कथा-चित्र अंकित करने वाले हिन्दी-कथाकारों का उन्होंने विरोध किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने मेरठ में अप्रैल, १९३७ में हुए गल्प-सम्मेलन में अपने विचारों को इन शब्दों में व्यक्त किया था—"बाहर के लोग हमारी गल्पों को पढ़कर यही सोचते होंगे कि यहाँ वालों को प्रेम-क्रीड़ा के सिवा कोई काम नहीं। देश नाना प्रकार के संकटों में पड़ा हुआ है और हम हैं कि कामुकता के नशे में मस्त हैं। उस पुरानी परिपाटी को त्याग देना होगा। जीवन को सम्पूर्ण रूप में अंकित करना चाहिए।[1]

उपर्युक्त मान्यता को अपनी कहानियों में क्रियान्वित करते हुए शिवरानी जी ने प्रायः निम्नलिखित सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं की चर्चा की है— (अ) हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य; धार्मिक विद्वेष आदि, (आ) स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय देशभक्तों द्वारा परतन्त्रता का जुआ उतार फेंकने के प्रयत्न—(अहिंसात्मक अथवा क्रान्तिकारी आन्दोलन, सरकार-विरोधी भाषण आदि) तथा अँग्रेज़ सरकार की दमन-नीति; (इ) स्वतन्त्रता के उपरान्त राष्ट्रीय सरकार के कुप्रबन्ध के परिणाम-स्वरूप देश में ब्लैक, रिश्वत, चोरबाजारी आदि की वृद्धि, फलतः निर्धनों की साधनहीनता। इन समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करते समय शिवरानी जी ने प्रायः आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है और आत्म-परिष्कार को देश-दशा के सुधार का मूल मन्त्र माना है।

उद्देश्य

भारतीय नारी के जीवन की अनेक समस्याओं एवं उसके चरित्र के विविध पक्षों का चित्रण शिवरानी जी की कहानियों का लक्ष्य रहा है। प्रेमचन्द जी की भांति उन्होंने भी अपनी गल्पों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का आश्रय लिया है, किन्तु नारी के विषय में उनका आदर्श प्रेमचन्द्र जी के आदर्शवाद से भिन्न कोटि

---

1. चाँद, जून १९३७, पृष्ठ २१०।

का है। पुरुष अथवा समाज के अन्याय को मौन भाव से सहन करना वे भारतीय नारी का आदर्श नहीं मानतीं अपितु ऐसी स्थिति में उन्होंने अपनी पात्राओं को विशेष सशक्त एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व से अनुप्राणित किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने सर्वत्र विरोध एवं विद्रोह का ही संदेश दिया है, अपितु अनेक कहानियों में उनकी नायिकाओं ने पतिपरायणता, सेवा, त्याग एवं सहिष्णुता के अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किए हैं। वस्तुतः उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष और नारी के समानाधिकारों का समर्थन किया है और जहाँ पुरुषों के स्वार्थ अथवा समाज की शृङ्खलाओं ने नारी के अधिकारों पर प्रहार किया है, केवल वहीं उनकी पात्राओं ने विद्रोह का परिचय दिया है और ऐसा करना प्रत्येक दृष्टि से उचित भी है।

शिवरानी जी ने अपनी कहानियों में युगीन प्रवृत्तियों के अनुरूप प्रायः इन उज्ज्वल भावों को स्थान दिया है—भ्रातृत्व का आदर्श (तर्का, पछतावा), सेवक अथवा सेविका का आदर्श (नमक का ऋण, बूढ़ी काकी), दाम्पत्य प्रेम का आदर्श (सच्ची सती, कप्तान), मानवतावादी दृष्टिकोण (माता, कुर्बानी, सिंदूर की रक्षा, हार का मूल्य)। देशभक्ति के क्षेत्र में लेखिका ने अहिंसा, आत्म बलिदान, त्याग, सेवा एवं धर्मसहिष्णुता को जीवन का अनुकरणीय धर्म माना है। प्रेम की आड़ में कामुकता के अश्लील चित्र अंकित करने अथवा कहानियों को सदाचार के प्रसार का साधन बनाने के पक्ष में भी वे नहीं हैं। इस प्रसंग में मेरठ के गल्प-सम्मेलन में उनके भाषण से यह अंश पठनीय है—"मैं यह नहीं कहती कि प्रेम का एक सिरे से बहिष्कार कर दिया जाय। नहीं, मेरा आशय यही है कि प्रेम को उसकी मर्यादा के अन्दर रखा जाय कि वह कामुकता का रूप न धारण करने पावे। मेरा आशय यह भी नहीं है कि हम अपनी गल्पों में ज्ञान और सदाचार का ही प्रयोग करें, यह काम हमारे दृष्टान्त कर ही रहे हैं। लेकिन गल्पों में प्रचार की भावना न रहते हुए भी जीवन का कोई न कोई सत्य, सौन्दर्य का कोई न कोई अंग, आत्मा की कोई न कोई झलक तो होनी ही चाहिये"।[1]

शिवरानी जी की कहानियाँ इन दोनों अतिवादों से मुक्त हैं : उनमें यथार्थ और आदर्श अथवा सत्य, शिव और सुन्दर का स्वाभाविक सामंजस्य मिलता है।

---

1. चांद, जून 1937, पृष्ठ 21।

भाषा-शैली

श्रीमती शिवरानी देवी ने अपनी कहानियों में प्रसादगुणगुम्फित अथवा लघु-वाक्यान्वित व्यावहारिक भाषा-शैली का प्रयोग किया है। दुघेंड़ी, नगीच, जैजात, पराछित आदि स्थानीय शब्दों[1] तथा मर्तबा, गुलाम, तराना, अख्तियार, खुदगरजी आदि उर्दू-शब्दों[2] के प्रचुर मिश्रण ने उनकी भाषा को पर्याप्त सजीवता प्रदान की है। इसी प्रकार टोले-मुहल्ले, धूम-धाम, काम-धाम, जोड़ा-जामा, बेल-बूटे आदि शब्द-युग्मों[3] और मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रसङ्गानुकूल प्रयोग ने उनकी भाषा को अतिरिक्त सजीवता प्रदान की है।

शिवरानी जी की शैली भावानुकूल, सहज, एवं प्रवाहपूर्ण है। अनावश्यक शब्दविस्तार अथवा कृत्रिम अलंकरण द्वारा भाषा को बोझिल बनाना उनकी प्रवृत्ति नहीं है। वस्तुतः उनकी अभिव्यंजना-शैली में सरिता-जैसी सरल, स्वाभाविक एवं स्वच्छन्द गति को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। किसी गम्भीर प्रसंग का उल्लेख करते समय लेखिका ने प्रायः लघु सूक्ति-वाक्यों का प्रयोग किया है। यथा—जब मनुष्य की विचार-शक्ति मंद हो जाती है, तो वह अंधा हो जाता है।[4] नारी के प्रति समाज के अन्याय का वर्णन करते समय उन्होंने अनेकशः व्यंग्य शैली में भावाभिव्यक्ति की है। उदाहरणार्थ 'सौत' शीर्षक कहानी के प्रारम्भ की ये पंक्तियाँ देखिए—स्त्री का रूपवती होना जरूरी है, नहीं तो उसका जीवन वृथा है। उसमें और कितने ही गुण हों, वह कितनी ही सुशीला हो, कितनी ही स्नेहमयी हो, कितनी ही प्रबन्धकुशल हो, पर रूप नहीं तो कुछ नहीं। फिर पुरुष के लिए दूसरा विवाह लाजिमी हो जाता है। आखिर बेचारा कुरूप स्त्री के साथ जीवन कैसे सानन्द बितावे[5]। अन्ततः यह कहने में अत्युक्ति न होगी, जैसा कि प्रेमचन्द जी ने स्वयं स्वीकार किया है, कि शिवरानी जी की शैली पर उनके पति की वर्णन-शैली का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है।

---

1. देखिये 'कौमुदी' पृष्ठ 1,3,13,14
2. देखिये 'नारी-हृदय' पृष्ठ 40,45,51,61,124
3. देखिये 'कौमुदी' पृष्ठ 20,26,30,57,75
4. नारी-हृदय, पृष्ठ 62
5. नारी-हृदय, पृष्ठ 88

निष्कर्ष

शिवरानी जी की कहानियों का विश्लेषण करने पर निष्कर्षस्वरूप ये धारणाएँ बनाई जा सकती हैं :—

1. उन्होंने मुख्यतः राष्ट्रीय और पारिवारिक विषयों को लेकर कथा-रचना की है और समकालीन समाज में प्रचलित कुरीतियों का बहुविध उल्लेख किया है। विशेषतः ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाली कहानी-लेखिकाओं में उनका स्थान सर्वोपरि है।

2. उनकी कहानियाँ नायिका-प्रधान हैं, फलतः उन्होंने भारतीय नारी की विशेषताओं का बहुविधि चित्रण किया है। वस्तुतः उन्होंने नारी-समाज की विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए ही पुरुष-पात्रों की सृष्टि की है। नारी होने के नाते वे नारी की समस्याओं और विशेषताओं के चित्रण में सफल रही हैं और यही उनका उद्दिष्ट भी हैं। उनकी पात्राओं ने एक ओर अन्याय के प्रति सशक्त विरोध किया है, तो दूसरी ओर उन्होंने उन पात्राओं को भी अपनी कहानियों में गौरवपूर्ण स्थान दिया है, जो भारतीय संस्कृति के अनुरूप शील, क्षमा, संकोच, पतिपरायणता आदि गुणों से विभूषित हैं। भारतीय नारी के सरल एवं ओजस्वी रूप का जैसा वर्णन उन्होंने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

3. शिवरानी जी ने संवादों में पात्रानुकूल भावों एवं तदनकूल शैली को स्थान दिया है। उनकी भाषा सरल एवं सक्षम है और उनकी कथा-शैली प्रेमचन्द जी के अभिव्यंजना-शिल्प का प्रभाव है।

कुंवर हरिश्चन्द्र देव वर्मा 'चातक, कविरत्न

*

नरवर नरेश श्री रामसिंह निर्मित अप्रकाशित 'जुगल विलास' ग्रन्थ

जयदेव, विद्यापति, कविराय, सूर, बिहारी, आदि प्रायः सभी कवियों ने राधा माधव के मिस से अपने हृदयोद्गार प्रकट किए हैं, जिनमें काव्य के भाव, रस, अलंकार इस अपूर्वता के साथ आये हैं कि अब तक खड़ी बोली में तादृश लाने का प्रयत्न ही किया जा रहा है। श्रीमन्महाराजाधिराज महीपति जंग इन्द्र बहादुर राजा रामसिंह भी उसी पद्धति के प्रेमी हैं। राग सोरठ में उन्हीं द्वारा लिखित जुगल-विलास, के अन्त में उनका तथा ग्रन्थ का परिचय प्राप्त कीजिए।

'नरवरनाथ, छत्रसिंह-सुत रामसिंह,
रुचिर बनायौ ग्रंथ रस कौ निवास है—
गावै जो कहावै सुने प्रेम में मगन होइ,
ताके उर राधा मनमोहन कौ बास है,
संवत अणरह सै बरस छतीस पुनि
सुदि तिथि पाँचे गुरुवार मधुमास है,
सुमति प्रकासकर
प्रेम सौ प्रकट भयौ 'जुगल विलास' है।

× × ×

................मन्हरी में तीनि, ईमन में—
..................कान्हरे में दो लखाने हैं,
........प्यारी सोरठ में तेरह, भरपाल—
मांझ एक, पूरबी में पाँच आने हैं।

वृन्दावनी सारंग में एक, पुनि सारंग में—
चौदह कहे हैं, जंगला में तीनि अने हैं।
सोरठ मलार चारि, शुद्धहि मलार एक,
ऐसे हो मलार मांझ तीनि दरसाने हैं।

× × ×

बागेसरी, कान्हरे में दोइ, स्याम माँझ दोई—
टोडी हू मैं दोइ, भैरों माँझ दो सुहाने हैं,
बाबा के दौ, जैजैवन्ती, जैत, गूजरी विलाबल—
धनासिरी हू में एक-एक करि गाने हैं।
याही रीति हंस किंकनी में गौर सारंग में—
ललित विभासह हू में एक-एक ल्याने हैं,
परज में तीनि, औ हमीरहू में तीनि औ—
उड़ाने माँझ तीनि नीकी भाँति पहचाने है।

× × ×

रामकली माँझ चारि गामे हैं सुहाई भांति
गौड़हि, मलार दोइ सुख सरसाने हैं,
कहे हैं षमाइच में सात सो सुहाने हिये—
दीये रहें कान ये तरंग में लुभाने हैं।
राधे कृष्ण नाम के उपासी सुख रासी गावैं—
सदा, औ गवावैं सदा प्रेम रस साने हैं,
'जुगल विलास, में कवित्त सत एक-एक
पाँच तीस राग में बनाइ के बखाने हैं।"

× × ×

इस ग्रंथ का रचना-काल संवत् 1836 है और अब संवत् 2020 है। आज से 184 वर्ष पूर्व की यह सुन्दर रचना मेरे शान्तिनिकेतन-पुस्तकालय का गौरव है। नरवर राज्य के वर्तमान अधीश्वर यदि इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर सकें तो एकमात्र मेरी ही शुभ भावना नहीं, उन्हें उनके पूर्व पुरुष रचनाकार राजा रार्मासह जी का भी शुभाशीर्वाद प्राप्त होगा। अब आइये सहज सरल ब्रजभाषा के प्रवाह में अपने हृदयों को रस-सिक्त कर ताप शान्त कीजिये।

राग कन्हरी—

"देखत दोऊ हिये हुलसे अति दोऊ वियोग-बिथा बिसरे हैं।
दोऊ रहे रस-रीति निहारि कें, दोऊ रहे पगि प्रेम खरे हैं
मोहनी औ मनमोहन जू मन के सब ही अभिलाष करे हैं—
चोप भरे, चतुराई भरे, अस चाह भरे हैं उमाह भरे हैं।

× × +

नायिका का वचन नायक से राग जंगला में सुनिए।

"चैन नहीं दिन रैनि पर्यो जबतें तुम नैननि नेक निहारे—
काज बिसारि दये गृह के, ब्रजराज में लाज समाज बिसारे,
मो विनती मन मोहन मानियौ मोते कहूँ मति हूजियौ न्यारे—
मोंहि सदा चित सौं अति चाहियौ नीके कै नेह-निबाहियौ प्यारे।,

× × ×

अब नायक का वचन भी नायिका से राग हंस किंकिनी में सुनिये:—

"जादिन तें निरषी तुम हौ मन मेरो लग्यौ तुम ही में रहै है—
है जु वही मन मोहन ह्वै कटि चाहत ताहि ही नित्त चहै है,
नैन है वे जु निहारें वही मुख, वैन कहै रसनाजु बहै है—
नेह कहा लागे के जु छुटै, वह नेह वही जु सदा निबहै है,।

× × ×

प्रेम का कैसा सच्चा चित्र है? यथार्थ में वे ही नेत्र हैं जो तुम्हारा प्रियदर्शी मुख सदा अवलोकन करें, रसना भी वही है जो तुम्हारी चर्चा से गौरवान्वित हो, और फिर प्रेम भी वही है जो सदैव स्थायी रहे, यह क्या कि आज जुड़ा और कल टूटा, यह तो स्नेह नहीं—और कुछ होगा!

नायिका फिर नायक से राग सोरठ में अपनी आँखों की विवशता का वर्णन करती है—

"मोहि गई तुम पै मन मोहन मेरी ही पै न रहीं अब मेरी—
लाज की रोकी रुकीं नहिं ये अरु नाहिं घिरीं पट घूँघट घेरी,
बोल अमोलनि मोल लईं अब जाइ लगीं ललचाइ घनेरी—
फेरी फिरैं न, भईं अखियाँ अब सांवरे रावरे रूप की चेरी,।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी भी 'अँखियाँ दुखियाँ नहीं मानतीं हैं,' कह

कर आँखों का उपालम्भ करते हैं। राजा साहब क्या निखिल सृष्टि के सभी कवियों ने यही शिकायत की है। राग सोरठ में सुनिये :—

"मेरी सदा सुधि राखियौ प्रीतम। मोंहि कहूँ चित तैं बिसरौ जिन—
नाहिने मोंहि कहूँ परिहै कल, रावरौ सुन्दर रूप लखे बिन,
लाज दई सिगरे ब्रज की तजि कैसेहू कोऊ बचाव करै किन ?
मोंहि तिहारे अधीन करी मनमोहन जू अति ही इन लोइनि।"

× × ×

इन आँखों में जैसी विचित्रता है, वैसी और कहीं नहीं है।

'खता करते हैं टेढ़े तीर ये कहने की बातें हैं—
वो देखें तिरछी नज़रों से ये सीधे दिल पै आते हैं।,

इनका सीधा तो सीधा है ही—टेढ़ापन भी सीधा है। चित पट दोनों इनकी हैं। इनका ही नहीं इन ललित लोचनों के पास-पड़ोसियों का भी यही हाल है।

'सूधी से सहस्र गुनी टेढ़ी भौंह मीठी लगै, ।

× × ×

बागेश्वरी कान्हरा में नायिका वंशी की शिकायत अपनी सखी से करती है :—

'रस भरी तानन के कानन वितान तानें—
आनें उर प्रेम सातौ सुरनि कौ साजैरी,
कौन भाँति धीरज धरों री वीर मन माँहि—
काम उपराजै औ अजक उपराजै री।
याहि कौन बरजि सकैरी मोंहि मोहिबे कों—
कैसी मन मोहन के सुख लगी गाजै री,
सुख के समाजे बिसराबै धाम-काजै-लाजै—
सुनि स्याम सुन्दर की वंशी वन बाजै री।

× × ×

राग सोरठ में परस्पर राधा माधव मिलन को सराहिये ! अनिंद्य सुन्दरी राधा जू गोपी हैं—और श्याम तो श्याम हैं ही, उपमा अलंकार का कैसा सुन्दर निर्वाह कवि ने किया है :—

"कुंडल श्रवन धरें पीत पट कटि धरें—
प्रगट बिहारी भये धरें उर दाम को,
देखि मन मोहन को पंकज-वदन तब—
गयौ दुख विरह कौ, भयौ सुख वाम को।
रँग्यौ कुच कुंकुम कौ दुपटा बिछाइ करि—
आसन रुचिर दियौ प्यारे अभिराम को—
सहित सनेह मिली भामिनि यौं भामते सौं।
सोहति है दामिनि ज्यों मिली घनस्याम को॥"

सारंग राग में राधा जू का अनन्य अनुराग तो देखिये। बेहोशी में सभी उपचार निष्फल सिद्ध हुए, एक मन मोहन मित्र का चित्र ही काम आया।

× × ×

"नीर गुलाब घनों छिरक्यौ घनसार घनों सजनीनि सुँघायौ।
कीनी बयारि निबारन तापहि चंदन लै घिसि अंग लगायौ,
कीनें घने उपचार तऊ वृषभानु-कुमारि को चेत न आयौ—
चेति उठी जबहीं तबहीं मन मोहन मित्र को चित्र दिखायौ।"

× × ×

एक छन्द का अन्तिम चरण देखिए :—

"पाती लिखि तुमको पठाई मन मोहन जू—
पाती बाँचि बाँचि करि, मेरी सुधि करियौ।"

× × ×

उत्तर में ब्रजराज की भी एक अन्तिम पंक्ति कितनी मार्मिक है—

"तेरे वियोग तें ताती हुती, जब पाती पढ़ी तब छाती सिराई।"

× × ×

अन्त में राधा माधव का विछोह समाप्त होकर मधुर मिलन की बेला भी आती है, राधा अपने प्यारे श्री कृष्ण जी से सोल्लसित कंठ से राग खमाइच में निवेदन करती है—

"पुलकित होइ प्रेम रस में छवीली भोइ—
बोली मन मोहन छबीले प्रान प्यारे सों—

फल को निहारे सुख सुकनिकों होत जैसे—
सुख बरही को घन कारे धुरवारे सों—
कमल निहारे सुख अलिनि कों होत जैसे—
हंसनि कों होत सुख मुकता सुढारे सों—
जैसे सुख होत है चकोर को निहारे चंद—
ऐसे मोंहि सुख भयो रावरे निहारे सों।"

× × ×

मालोपमा अलंकार कैसा फब रहा है ? जो भी जहाँ जिसका अनन्य प्रेमी हो, इसी प्रकार मिलकर सुख प्राप्त करे।

राजा रामसिंह एक सिद्धहस्त कवि थे। निखरी हुई ब्रजभाषा में इतनी सफलता के साथ कोई साधक ही लिख सकता है।

वैसे सरसरे तौर से पढ़ने में पाठकों को उपर्युक्त छन्द कवित्व-सवैया प्रतीत होंगे। पर स्वर साधक जब-जब उन राग रागनियों की लय में उन्हें पढ़ेंगे तब-तब वे ही राग रागनी सिद्ध होंगे। मुझे गायनाचार्यों ने इन्हें गाकर सुनाया है।

हर्ष है कि मेरे द्वारा प्रभु की यह इच्छा-पूर्ति हो रही है—जो ये 'धूल भरे हीरे' प्रकाश में आरहे हैं, जिनसे मेरी मातृभाषा नागरी गुणागरी का मस्तक ही ऊँचा नहीं होगा अपितु भविष्य में जो हिन्दी का सच्चा इतिहास लिखा जायगा, उसमें भी चार चाँद लग जायेंगे।

महाराज रामसिंह जी के रस अलंकार विषयक निम्न तीन ग्रन्थों की चर्चा स्व० श्री पं० रामचन्द्र जी शुल्क ने अपने इतिहास में की है—१—अलंकार-दर्पण, २—रस निवास, ३—रस विनोद, पर लगता है यह उनका चौथा ग्रन्थ है जो उस समय शुक्ल जी को प्राप्त नहीं हुआ था।

पुनश्च—आज के इतिहास में तो मित्रों और चापलूसों को ही गण्य गुणियों के स्थान पर बैठाया जाता है, जिसके लिए ('धिक ताञ्च, तञ्च,) कहना ही अलम् है।

अनुसंधान

हिन्दी की आधारभूत शब्दावली

श्री अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' के 150 पृष्ठ आवृत्ति-गणना के लिए लिए गए । यह कार्य दि० 15-6-64 से दि० 5-9-64 तक चलता रहा । गोदान में एकत्रित शब्द लगभग 2250 थे और 'बूँद और समुद्र' में प्रायः इन सभी शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ और लगभग 500 शब्द भी आवृत्ति-गणना में लिए गए । इस प्रकार कुल एकत्रित सूची 2700-2800 तक पहुँच गई है । इसके अलावा संदिग्ध शब्दों की संख्या भी लगभग 1500 है । यदि आवश्यक हो तो इनमें से भी हम बहुप्रचलित शब्दों को ले सकते हैं, जैसे—

व्युत्पन्न शब्द	नये शब्द	ध्वन्यात्मक शब्द	पारिभाषिक शब्द
सामाजिक	मोटर	तिलमिलाना	व्याकरण
आत्मीयता	टेलीफोन	खटखटाना	समाजवाद
व्यवस्थापक	कोट	बकझक	रीडर
अधिकांश	सिगरेट	थरथराना	मनोविज्ञान आदि

श्री नागर की भाषा में प्रेमचन्द की तरह मुहावरों तथा कहावतों की बहुलता नहीं मिलती । प्रेमचन्द में गाँव का और ग्रामीण वातावरण का चित्रण होता है और नागर में नगर तथा नागरिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला जाता है । इस प्रकार इन दोनों का शब्द-समूह अपने-अपने क्षेत्र में सीमित है । इसलिए आवश्यक यह है कि हम विभिन्न प्रकार के लेखकों के, विविध प्रसंगों में प्रयुक्त भाषा के नमूने लें और वहाँ से शब्दों की आवृत्ति-गणना का तथा चयन का कार्य करें । इस कारण यह निश्चय किया जाता है कि आगे उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित प्रारम्भिक रीडरों के शब्दों की आवृत्ति-गणना की जाए ।

उक्त कार्य के संदर्भ में हमें निम्नलिखित समस्याओं का समाधान करना पड़ा तथा शब्द-चयन के कुछ नए नियम बनाए गए । कार्य के विवरण के साथ प्रसंगानुकूल उनका भी उल्लेख किया जाएगा ।

लिए गए शब्द तथा उनका आधार :

1. सार्वनामिक शब्द तथा क्रियाविशेषण :

अभी	83	ऐसा	149	जैसे	77
इन	45	किस	46	जिस	86
इसी	46	कितना	64	यहाँ	60
उसी	44	कभी	86	वहाँ	6
उन्हें	78	वहीं	87	जिन	25

(साथ में दी गई संख्या उस शब्द की आवृत्ति-गणना है। जहाँ अन्यथा न उल्लेख हो, आवृत्ति कुल 300 पृष्ठों में से है)।

इन शब्दों की आवृत्ति अधिक होते हुए भी इनका वाक्य-रचना में महत्त्व भी असंदिग्ध है। इसलिए इन शब्दों को आधारभूत शब्दावली में लिया जा सकता है। इस वर्ग में, ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनकी प्रयोग-आवृत्ति बहुत ही कम है, जैसे—

इन्हीं 10	इन्हें 12	जिन्हें 8
तुझ 8	तुझे 13	हमीं 1
कब 9	तभी 15	जभी 1

इन शब्दों में यदि इन्हें, जिन्हें आदि शब्द क्रमशः इन (को), जिन (को) से स्थानापन्न किए जा सकें, तो हम आवृत्ति-गणना के आधार पर इन, जिन आदि रूपों को ही लेंगे।

2. गोदान की तुलना में निम्नलिखित शब्दों की आवृत्ति-गणना :

		गोदान	बूँद और समुद्र
अ.	दूध	41 (50 पृष्ठ)	5
	गाँव	99	8
	पाना	59	11
	द्वार	63	7
	रुपया	98	20
	बिरादरी	30	1

		गोदान	बूंद और समुद्र
आ.	चेहरा	10	66
	दरवाज़ा	×	61
	दुनिया	12	82
	रूप	22	45
	आवाज़	12	48
	नज़र	8	89
	विचार	29	45
	समय	35	76
	गली	10	59
		गो०	बूँ० स०
इ.	घर	115	56 (50 पृष्ठ)
	आँख	68	64
	दिन	101	81
	हाथ	69	48 (,,)
		गो०	बूँ० स०
ई.	स्त्री	24	59
	औरत	80	64
	पुरुष	19	53
	आदमी	130	29
	शादी	10	30
	विवाह	18	17
	ब्याह	19	14

(दोनों पुस्तकों से 150 पृ० जहाँ अन्यथा उल्लेख न हो)

ये सभी शब्द तीन प्रकार के होते हैं। अ तथा आ में आए हुए शब्दों का प्रयोग किसी एक पुस्तक में अत्यधिक हुआ है, तथा दूसरी में अत्यल्प। साथ ही हम देखते हैं कि गाँव, दूध, गाय आदि शब्द एक ही विशिष्ट वातावरण के बोधक हैं। इस कारण, यह हो सकता है कि इन शब्दों का प्रयोग प्रांसगिक ही हो। इसलिए इनकी गणना जारी रखें तथा, आगे जाँच के बाद इनको आधारभूत शब्दावली में लें।

इ में आए हुए शब्दों का प्रयोग दोनों पुस्तकों में बराबर रूप से मिलता है साथ ही इन शब्दों का आधारभूततत्व असंदिग्ध है। इसलिए हम इन्हें आधारभूत शब्दावली में ले लें। ई में पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिनमें एक लेखक किसी एक का अधिक प्रयोग करता है तथा दूसरा दूसरे का। जैसे, प्रेमचन्द जी द्वार, आदमी तथा औरत का अधिक प्रयोग करते हैं तथा नागर जी दरवाजा तथा पुरुष का। प्रेमचन्द में दरवाज़ा शब्द आया ही नहीं है। इस प्रकार शब्दों का विविध प्रयोग किन्हीं-किन्हीं शब्दों के प्रति लेखक की निजी रुचि तथा लेखक की शैली की विशेषता के कारण ही होता है। इन शब्दों का भी प्रयोग हम कई लेखकों की विविध प्रसंगों की भाषा में देखेंगे जैसे पत्र-पत्रिकाएँ तथा अखबार आदि।

3—आधारभूत शब्दावली में कुछ प्रकार के शब्द अपने में आधारभूततत्व लिए हुए रहते हैं। जैसे

क—शरीर के अंग

दांत 8	कान 28	पैर 34

ख—अन्य प्राणी

कुत्ता 8	घोड़ा 6	बिल्ली 25

ग—धातु

पीतल 2	सोना 18
ताँबा 1	लोहा 1

घ—धन्धा

सुनार 3	*मजदूर 12
बढ़ई 11	*किसान 16

च—अनाज आदि

*चावल 1	*आम 7	*गेहूँ

(*ये शब्द बूँद और समुद्र में आए ही नहीं हैं)

छ—रिश्ता

माँ 54	बाप 47

माता 11
बहन 21
भाई 71
बेटा (बेटी सहित) 49
सास 49
ससुर 4

पिता 37
पति 59
पत्नी 88
दादा (दादी सहित) 28
बहू 62

इन शब्दों में कई शब्दों की आवृत्ति-संख्या इतनी नहीं है कि हम इन्हें तुरन्त आधारभूत शब्दावली में ले लें। कई की आवृत्ति संख्या तो 01 के नीचे ही है। कई आधारभूत शब्द जैसे केला, दामाद, लुहार, कंघा, मामा, तालाब आदि इन दोनों पुस्तकों में आए ही नहीं है। इसलिए इनकी आवृत्ति गणना जारी रखें और यदि आवश्यक गणना के बाद आवृत्ति-न्यूनता के कारण इन्हें न ले सकें, तो इन्हें आधारभूत शब्दावली में ले लेने के लिए कोई अन्य नियम बनाएँ।

4—क्रियाएँ : गणना के आधार पर कई क्रियाएँ आधारभूत शब्दावली में ले ली गई हैं। जैसे—

मानना 105 उठाना 106 पकड़ना 87
खाना 134 हँसना 99 लाना 72 (200 पृष्ठ)
पहुँचना 86 बनाना 65 (,,)

पर निम्नलिखित क्रियाओं की आवृत्ति-संख्या कम है। इसलिए इनकी आवृत्ति-गणना जारी की जाए।

दिखाना 55 खींचना 40 लौटना 56
दौड़ना 14

5—विशेषण : ये शब्द आवृत्ति-गणना के आधार पर लिए गए हैं।

पूरा 80 (पूरा करना, पूरा होना, पूरी जिम्मेदारी)
खड़ा 96 (150 पृ०)
दूसरा 81 (,,)
छोटा 58 (,,)
नया 87 बुरा 86

जरा 64 (200 पृ०)
सा 71 (150 पृ०)
भर 52 (,,)
बहुत 60 (,,)

कहीं-कहीं इनमें भी पर्यायवाची शब्द आ जाते हैं।

ज्यादा 86 अधिक 21

इनका भी चयन हम विविध प्रसंगों के आधार पर ही कर सकते हैं।

6—परसर्गीय शब्द (Post positionals) :

पीछे 51 (150 पृ०)	ऊपर 48 (200 पृ०)
बाहर 45 (,,)	अन्दर 75
पहले 40 (,,)	साथ 96
पास 67 (,,)	

इनमें पर्यायवाची शब्दों की आवृत्ति-गणना देखें।

		प्रेमचन्द (150 पृ०)	नागर (150 पृ०)
(क)	तरह	26	76
	भाँति	30	
(ख)	ओर	65	18
	तरह	67	113

'भाँति' का प्रयोग नागर ने किया ही नहीं और 'ओर' का प्रयोग उनमें नहीं के बराबर है। प्रेमचन्द में 'भाँति' और 'ओर' का प्रयोग ही अधिक हुआ है। इस प्रकार शब्दों के प्रयोग में लेखक की रुचि और शैली का ही विधान होता है।

7—अव्यय :

मानो 59	इसलिए 39	अगर 78
हाँ 64 (200 पृ०)	चाहे 44 (150 पृ०)	

ऊपर दिए गए आवृत्ति-गणना-विवरण के आलोक में निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं।

(अ) शब्दों का चयन अर्थ की दृष्टि से भी होना चाहिए। शब्द के रूप तथा उनके अर्थ का आपसी संबंध वैयाकरण को भी उलझन में डाल देता है। साया (Shade) तथा छाया (Shadow) ये दोनों शब्द आधुनिक भाषा में अलग-अलग अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'साया' पेड़ या बाग की ठंडी छाया को कहते हैं, जो गर्मी से रक्षा करती है। 'छाया' प्रकाश में स्थित हर वस्तु की आकृति का बिंब है। इन दोनों के अलग-अलग लक्षणार्थ भी विकसित हो गए हैं।

हम आपके साये में आगये (शरण, आश्रय)

यह उसकी छाया मात्र है। (प्रतिरूप, नकल)

मैं उसका छाया की तरह पीछा कर रहा था।

यदि आवृत्ति-गणना के आधार पर दोनों शब्द आवश्यक समझे जाएँ, तो हमें इनको अलग-अलग ही लेना पड़ेगा।

इसी प्रकार बात (matter, talk) तथा बातचीत (Conversation) भी उलझा देने वाले शब्द-युग्म हैं।

जैसे क्या बात है, कोई बात नहीं, अच्छी बात (वाक्य के शुरू में) तथा बात करना (to talk)

बातचीत (दो या अनेक लोगों का संभाषण) उनकी बातचीत बहुत देर तक होती रही।

चुप (Silent)—विशेषण, चुपचाप (silently)—क्रि०वि० चुप रहो, चुप किया।

चुपचाप पढ़ो, चुपचाप चले जाओ।

शायद इन दोनों के रूप तथा अर्थ के भ्रम के ही कारण "(Basic Hindi Vocabulary)—2000" में इनको एक ही शब्द मान लिया गया है और दूसरा शब्द नहीं दिया गया है।

छांह	Shade
बात	Talk
चुप	Silent (क्रि० वि० में रखा हुआ है)

(आ) शब्दों के शब्द वर्ग निर्धारित करना :

शब्दों को संज्ञा, सर्वनाम आदि वर्गों में विभाजित करना व्याकरण की पुरानी परिपाटी है। पर भाषा के प्रयोग में ऐसे शब्द आते हैं, जिनका प्रयोग कई वर्गों में होता है। जैसे,

कारण, जगह (संज्ञा)	के कारण, की जगह (पर सर्ग)
अच्छा (वि०)	अच्छा हुआ (विधेय वि०)
कैसे (लड़के) (वि०)	कैसे (क्रि० वि०)

जरा, सा आदि का वर्ग सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि इसके पहले इनके मूल रूप का निर्धारण करना होगा। इनके कई प्रयोग यों है—

जरा इधर आओ।

जरा-सा काम है, इससे घबराते हो।

रेत-सा तन रह गया है ।

जरा-सा रुको ।

इनके अलावा कई ऐसे शब्द हैं जिनके शब्द वर्ग के बारे में काफ़ी मतभेद है । जैसे चूँकि, हाँ, इसलिए, सिर्फ आदि । इस कारण हम इन शब्दों को शब्द वर्गों में न बाँधकर वाक्य में इनके प्रयोग के अनुसार इनका वर्ग-विभाजन करेंगे ।

(इ) कई शब्दों के प्रयोग में दो या अधिक रूप मिलते हैं । इसके दो प्रमुख कारण हैं ।

(क) कहीं अनेक कारणों से, शब्द एक से अधिक रूप में चल पड़ता है जैसे बताना—बतलाना, दिखाना—दिखलाना, दायाँ—दाहिना

होंठ, होठ, ओठ, ओंठ, आदि

(व) कहीं उच्चारण और शब्द के रूप में भिन्नता होने पर उन्हें समान बनाने के प्रयास में अनेक रूप चल पड़ते हैं । जैसे

खत्म—खतम धर्म—धरम

मुस्कराना—मुस्कुराना बँटवारा—बटवारा

आधारभूत शब्दावली में हम इन दोनों रूपों के बारे में कोई निश्चित नियम बना लें या गणना के आधार पर इनका रूप–निर्धारण कर लें । पर भाषा की सुबद्धता (harmony) की दृष्टि से हम प्रथम नियम का ही पालन करें तो अच्छा होगा, क्योंकि इससे हम बाद की कई उलझनों से बच सकते हैं ।

—वी० रा० जगन्नाथन
अनुसंधान सहायक

हिन्दी क्रियाएँ

'गवेषणा' के पिछले अंक (मार्च' 1964) में योजना, योजना का उद्देश्य और उसकी कार्यप्रणाली पर प्रकाश डाला जा चुका है ।

धातुओं और क्रियाओं का संकलन अब तक चार पुस्तकों से किया गया है, जिनमें तीन रीडर हैं और एक कहानी संग्रह । रीडरों में भाग 2, भाग 3 और भाग 4 पर काम किया गया है । भाग 2 (हिन्दी बाल-भारती) मध्यप्रदेश सरकार द्वारा निर्मित और प्रकाशित है तथा अन्य दो रीडर उत्तर प्रदेश सरकार

द्वारा कहानी संग्रह हैं। मानसरोवर (तृतीय खण्ड) प्रेमचन्द का। इन चारों पुस्तकों में समान रूप से प्रयुक्त धातुओं की सूची नीचे दी जा रही है। धातुएँ समान इस अर्थ में हैं कि वे प्रत्येक पुस्तक में (चारों में) प्रयुक्त हैं। ऐसी धातुएँ छोड़ दी गयी हैं जो किसी एक, दो या तीन पुस्तकों में ही प्रयुक्त हैं। ऐसी धातुएँ कुल 121 हैं।

सूची देने के पहले संक्षेप में सम्पूर्ण कार्य-प्रगति का विवरण इस प्रकार है। अब तक मानसरोवर और रीडरों को मिलाकर कुल 608 धातुएँ मिली हैं। इनमें मूल धातुएँ और यौगिक धातुएँ—दोनों सम्मिलित हैं। भिन्न-भिन्न क्रियारूपों की आवृत्ति-संख्या 25,000 तक पहुँच गयी है। काल और वृत्ति के आधार पर मानसरोवर के क्रिया-रूपों का वर्गीकरण समाप्त हो चुका है :—

नीचे दी गयी 121 धातुओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये अत्यन्त व्यावहारिक हैं। विशेष प्रचलन के कारण ही इनका प्रयोग चारों पुस्तकों में मिलता है। इन्हें हम आधारभूत शब्दावली के अन्तर्गत ले सकते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि केन्द्रीय सरकार, शिक्षा-विभाग द्वारा प्रकाशित 500 शब्दों के "Basic Hindi Vocabubary" में भी धातुओं की संख्या 121 दी गयी है। किन्तु संख्या समान होने पर भी धातुओं में समानता नहीं है। अर्थात् एक ही धातु दोनों जगह नहीं हैं।

उपर्युक्त चारों पुस्तकों में प्रयुक्त धातुएँ :—

आना	चीरना	पाना	महकना
उठना	छाना	पीटना	माँगना
उठाना	छिपना	पीना	मानना
उड़ना	छूटना	पुकारना	मरना
उतरना	छूना	पूछना	मारना
—	छोड़ना	फँसना	मिलना
उतारना	जमना	फूलना	मिलाना
कसना	जलना	फेंकना	मुस्काना
—	जलाना	फैलना	रखना
कहना	जानना	बचना	रहना
—	जाना	—	—
काटना	झुकना	बजना	होकना

कूदना	डरना	बढ़ना	रोना
खरीदना	डालना	बढ़ाना	लगना
—	ढँकना	बताना	लगाना
खींचना	दबाना	बदलना	लड़ना
खेलना	देखना	बनना	लाना
खोलना	दिखाना	बनाना	लिखना
गाना	देना	बहना	लेटना
गिरना	दौड़ना	बाँधना	लेना
गिराना	धोना	बिखरना	लौटना
घबराना	नहाना	बीतना	सँभालना
फिरना	निकलना	बुलाना	सजना
घुसना	निकालना	बेचना	समझना
घूमना	पकड़ना	बैठना	सीखना
चढ़ना	पड़ना	बैठाना	सुनना
चमकना	पढ़ना	बोलना	सुनाना
चलना	पहचानना	भरना	सोचना
चलाना		भागना	सोना
चाहना	पहनना	भूलना	हँसना
चिल्लाना	पहुँचना	भेजना	होना

भिन्न-भिन्न क्रियारूपों की आवृत्ति-संख्या नीचे दी गयी है। व्यापार की तीन अवस्थाओं और प्रमुख तीन कालों के बोधक क्रियारूपों की ही आवृत्ति-संख्या दी गयी है। वृत्तियों (Mood) को छोड़ दिया गया है। इस आवृति-संख्या से यह निर्णय निकाला जा सकता है कि भाषा में व्यापार की किस अवस्था (पूर्ण, अपूर्ण, अभ्यास) या किस काल (भूत, वर्तमान, भविष्य) का प्रयोग सबसे अधिक होता है। आवृति-संख्या के आधार पर ही हम भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और कालों का स्थान निर्धारित कर सकते हैं। वृत्तियों में हम किस वृत्ति का प्रयोग सबसे अधिक करते हैं, उसके बाद किस वृत्ति का और फिर उसके बाद किसका—यह जानना भी भाषा सीखने वालों के लिए सुविधाजनक होगा। किन्तु वृत्तियों के सम्बन्ध में उनकी एक निश्चित संख्या के बारे में अभी कोई पुष्ट धारणा नहीं बन पाई है। और भी अनेक उलझनें हैं। इसी से फिल-हाल इन्हें छोड़ दिया गया है।

अवस्थाओं और कालों का निश्चय अर्थ के आधार पर किया गया है। रूप के आधार पर नहीं। जैसे—वर्तमान पूर्ण के अन्तर्गत ये सब रूप हैं—"गया है," "जा चुका है," "सो गया है" इत्यादि। इसी तरह वर्त० अभ्यास "जाता है," "जाता रहता है," "पढ़ा करता है" आदि रूप सम्मिलित हैं। अर्थात् एक काल और एक अवस्था के बोधक चाहे जितने भिन्न रूप हों सबको एक मान कर आवृत्ति-संख्या दी गयी है।

'मानसरोवर' के क्रियारूपों की आवृत्ति-संख्या अलग से दी जाएगी क्योंकि वह अपने में भी बहुत बड़ी है।

क—

भूत (अभ्यास) 37
भूत (पूर्ण) 383+36=419
भूत (अपूर्ण) 70
भविष्य=62
वर्तमान (अभ्यास) 242
वर्तमान (अपूर्ण) 45
वर्त० (पूर्ण) 42
पूर्वकालिक क्रिया—146

कृदन्त विशेषण – } भूत 13
वर्त० 32

ख—

भूत (अभ्यास) 31
भूत (अपूर्ण) 60
भूत (पूर्ण) 437
भविष्य—48
वर्तमान (अभ्यास) 70
वर्तमान (अपूर्ण) 25
वर्तमान (पूर्ण) 19
पूर्वकालिक—165

कृदन्त विशेषण } भूत—26
वर्त०—31

ग—

भूत (अभ्यास) 80

भूत (अपूर्ण) 103

भूत (पूर्ण) 662+57

भविष्य—82

वर्तमान (अभ्यास) 100

वर्तमान (पूर्ण) 64

वर्तमान (अपूर्ण) 64

पूर्वकालिक—268

कृदन्त विशेषण { भूत—53
वर्त०—74.

—चतुर्भुज सहाय
अनुसंधान सहायक

हिन्दी की आधारभूत शब्दावली

हिन्दी भाषा की, प्रयोग-आवृत्ति के आधार पर आधारभूत शब्दावली के चयन का यह कार्य पिछले साल से चल रहा है। इसमें अब तक दो उपन्यास और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित प्रारम्भिक रीडरों की आवृत्ति-गणना की गई है जिसका संक्षिप्त विवरण पिछली और इस गवेषणा में प्रकाशित किया जा रहा है।

उक्त आवृत्ति-गणना के आधार पर यहाँ एक शब्द-सूची दी जा रही है जिसमें उन्हीं लगभग 500 शब्दों का समावेश है जो अधिक-आवृत्त हैं। यह सूची एक प्रयोगात्मक प्रयास है और अन्वीक्षणार्थ प्रकाशित की जा रही है।

इस शब्दावली में जो हमारी अन्तिम "आधारभूत शब्दावली" के अन्तर्गत ही सम्मिलित होगी, हम उन शब्दों को ले नहीं रहे हैं, जिनकी आधारभूतता में किसी को कोई सन्देह नहीं, और जिनको बिना परीक्षण के ही ले सकते हैं जैसे एक, दो, तीन आदि गणना, दिनों के नाम, महीनों के नाम तथा अन्य प्रधान शब्द।

इस सूची के चयन में केवल आवृत्ति-बहुलता का ही आधार लिया गया है। इस कारण इसमें कुछ अनावश्यक शब्द भी सम्मिलित हो गए हैं जैसे परी, अशर्फ़ी और कुछ आवश्यक शब्द छूट भी गए हैं जैसे अचानक और दाँत। पर निष्पक्ष रूप से प्रयास करने की दृष्टि से हम इस सूची को यों ही प्रकाशित कर रहे हैं। यह सूची अन्तिम नहीं है।

टिप्पणी :

+ चिह्नित शब्दों की आवृत्ति सबसे अधिक हैं। इन शब्दों की आवृत्ति इतनी अधिक है कि इनकी गणना केवल परीक्षणार्थ कुछ पृष्ठों में से की गई और बाद में इन शब्दों को भाषा में इनकी अनिवार्यता तथा आवृत्ति-बहुलता के आधार पर आधारभूत शब्दावली में ले लिया गया है। प्रधान रूप से इन शब्दों का वर्ग-विभाजन यों है :—

(अ) गठनात्मक अनिवार्यता (Structural necessity)—जैसे है, ने, पर, और, का, को, से आदि।

(अ) प्रधान क्रियाएँ जिनकी अनिवार्यता असंदिग्ध हैं तथा आवृत्ति भी अधिक है जैने आना, जाना, देना, कहना, करना।

(इ) अनिवार्य सर्वनाम तथा अन्य प्रधान शब्द जैसे तुम, इस, यह, आप कौन, कोई, कहाँ आदि।

1. चिह्नित शब्दों की आवृत्ति 100 के ऊपर है।

2. चिह्नित शब्दों की आवृत्ति 50 से 100 तक है।

अचिह्नित शब्दों की आवृत्ति 25 से 50 तक है।

शब्द-सूची

अन्त
अन्दर 1
अगर 1
अच्छा 1
अधिक
अधिकार
अनाज
अनुभव
अनेक
अपना
अब +
अभी 1
अलग 2
अवसर
अशर्फ़ी
आँख 1
आँसू
आकाश
आखिर
आग
आगे 1
आज 1
आजकल
आज्ञा
आदमी 1
आदि 2
आधा
आनन्द
आना +
आप +
आप (खुद)
आराम
आवाज़ 1
इच्छा
इतना +
इधर
इन 1
इन्सान
इशारा
इस +

इसलिए2
इसी1
इसीलिए
ईश्वर
उठना 2
उठाना 1
उड़ना
उतरना 2
उत्तर
उधर 2
उन +
उन्हें 1
उन्होंने 1
उस +
उसी 1
उसे +
ऊँचा 2
ऊपर 1
ऐसा 1
ओर 1
और +
औरत 1
कई
कटना
क़दम
कपड़ा 2
कभी
कम 2
कमरा 2
करना +
कराना

कल
कला
कहना +
कहाँ +
कहानी
कहीं 1
काँपना
का +
काटना 2
कान
काम 1
कारण 2
काला
कि +
कितना 1
किनारा
क़िला
किस 1
किसी +
कुछ +
केवल 2
कैसे +
को +
कोई +
कोट
कौन +
क्या +
क्यों +
क्रोध 2
क्षण
क्षमा

खड़ा 1
खाना 1
खाली
खिलाना
खींचना 2
ख़ुद 2
खुलना
ख़ुश
ख़ुशी
ख़ूब
खेत 2
खेलना 2
खोलना 2
ख़याल
गंभीर
दगरन
गर्म
गला
गली 2
गहरा
गाँव 2
गाड़ी 2
गाना
गाय 1
गाली
गिरना 2
गुफ़ा
घबराना
घर 1
घूमना
घोड़ा 2
चढ़ना 2
चमकना 2
चलना +
चलाना
चाय
चाहना 1
चाहिए 1
चाहे
चिन्ता
चिड़िया
चित्र
चिल्लाना
चीज 2
चुप
चुपचाप
चेहरा 1
चोर
छत
छाना क्रि०
छिपना
छूटना
छोटा 1
छोड़ना 1
जगह 2
जन्म
जब +
जमाना
ज़मीन
ज़रा 1
ज़रूर
ज़रूरत

जलना
ज़ल्दी
जवाब
जहाज़
जागना
जाड़ा
जादू
जान
जानना
जाना +
जाने 1
जाल
ज़िन्दगी
जिस 1
जी (जान)
जी (संबोधन)
जीव
जीवन 1
जैसे 1
जो +
जोड़ना
ज़ोर 2
ज़्यादा
झुकना
झुकाना
झूठा
टूटना
ठीक 2
डर
डरना
डालना

तक +
तमाशा
तरफ़ 1
तरह 1
तुम +
तुम्हारा
तुम्हें +
तू +
तेज़
तेज़ी
तैयार 2
तो +
तोड़ना
थोड़ा 2
दबाना
दया
दरवाज़ा 2
दादा
दाहिना
दिखाना 2
दिन 1
दुख
दीखना
दुनिया 2
दूकान
दूध 2
दूर 1
दूसरा 1
दृष्टि
देखना +
देना +

देर 2
देवता
देश 1
देह
दौड़ना 1
द्वार 2
धन
धरम 2
धीरे 2
ध्यान 2
न +
नगर 2
नज़र 1
नदी
नन्हा
नया 1
नहीं +
नाता
नाम 1
निकलना 1
निकालना 1
निश्चय
नीचे 1
ने +
नौकर
पकड़ना 1
पड़ना +
पढ़ना 2
पत्थर
पत्नी 2
पत्र (Letter)

पर (लेकिन)
पर (कारक) +
परी
पहनना 2
पहला
पहले 1
पहुँचना 1
पहुँचाना
पाँव

पाना 2
पानी 1
पार
पास
पिता 1
पीछे 1
पीना 2
पुकारना
पुराना 2
पुरुष 2
पुल
पुलिस
पूछना
पूरा 1
पृथ्वी
पेट 2
पैर 2
पैसा
पौधा
प्यार
प्यारा

प्रकार
प्रकाश
प्रवेश
प्रश्न
प्रसन्न 2
प्रसिद्ध
प्राण
प्रार्थना
प्रेम 2
फिर +
फूल 2
फैलना
बन्द 2
बन्दूक
बँधना
बचना
बचाना
बच्चा 1
बजे
बड़ा 1
बढ़ना 1
बढ़ाना 2
बताना 1
बदलना
बनना 1
बनाना 1
बरस
बराबर
बल
बस (अव्यय)
बहन 2
बहना क्रि
बहुत 1
बहू 2
बाँधना 2
बाँस
बाक़ी
बाज़ार
बात 1
बाप 2
बायाँ
बार 1
बाल
बाहर 1
बिजली
बिरादरी
बिलकुल
बिल्ली
बीच 1
बुद्धि
बुरा 1
बुलाना 2
बूढ़ा
बेचना
बेचारा
बेटा 2
बैठना 1
बैल
बोलना +
ब्याह
भगवान 2
भय

भर 1
भरना 1
भला
भाँति
भाई 1
भाग पु०
भागना 2
भारी
भाव 2
भी +
भीड़
भीतर
भूमि
भूलना
भूसा
भेजना 2
भोजन
मकान
मगर
मत (अव्यय)
मन 1
मनुष्य
मरना 2
मर्द 2
महल
महीना
माँ 2
माँगना 2
मानना 1
मानों 1
मारना
मालिक
मालूम 2
मिट्टी
मित्र
मिलना +
मुँह 1
मुझे +
मुस्कराना 2
में +
मेरा +
मेहमान
मैं +
यह +
यहाँ 1
यही +
या 1
यात्रा
याद 2
युद्ध
युवती
यों
रंग
रक्षा
रखना 1
रहना +
राज
राजा 1
राज्य 2
रात 1
रानी
रास्ता

रुकना
रुपया 1
रूप 2
रोकना
रोज़ 2
रोगी
रोना 2
लंबा
लकड़ी
लगना (सहायक क्रि०)+
लगना (क्रिया) 1
लगाना 2
लड़का 1
लड़ना 2
लड़ाई
लाना 1
लाल
लिए+
लिखना 2
लेकिन
लेना+
लोग 1
लौटना 1
वक्त
वह+
वहाँ 1
वर्ष 2
विचार 1
विवाह 2
विषय
विशेष
विश्वास
वीर
व्यवहार
शक्ति
शत्रु
शब्द
शराब
शहर
शादी
शाम
शायद
शासन
शिकार 2
शुरू 2
सम्बन्ध
सँभालना
संसार
सकना 2
सच
सड़क 2
सदा 2
सब+
सवेरा 2
समझना 1
समझाना
समय 1
समाज 1
समुद्र
सरदार
सहसा
सहायता

—सा 1
साड़ी
साथ 1
साथी
साफ़
सामने 1
सारा 1
साल 2
सिंह
सिद्धान्त
सिपाही
सिर 1
सुन्दर 2
सुख
सुनना 1
सुनाना
से
सेना 2
सेवा
सैनिक
सोचना 1
सोना पु०
सोना क्रिया 2
स्त्री 1

स्थान
स्वयं
स्वर 2
स्वार्थ
हँसना 1
हँसी 2
हजार 2
हटना
हम +
हमारा +
हमें +
हर (प्रत्येक) 2
हवा
हवाई जहाज़
हाँ 1
हाथ
हाल
हिरन
हिलाना
हिस्सा
हो +
हृदय
होना (है) +
होना (हुआ) +

संस्थान की गतिविधियाँ

हिन्दी का भावी रूप

इस वर्ष भी पिछले वर्षों की भाँति, अनेक हिन्दी विद्वान तथा राष्ट्रभाषा के प्रचार कार्य से सम्बद्ध महानुभाव संस्थान के संदर्शनार्थ आते रहे और अपने सद्‌विचार और भाषणों से संस्थान के छात्रों को उत्साहित करते रहे। इस वर्ष की एक मुख्य घटना है राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द का संस्थान में संदर्शनार्थ आगमन। दि० २४-१०-६४ को विशेष रूप से बनाए गए पंडाल में डा० सम्पूर्णानन्द का स्वागत किया गया। इस अवसर पर केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल के अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में एक सभा हुई और उसमें डा० सम्पूर्णानन्द ने हिन्दी के भावी रूप के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए। हम उनके भाषण का सार यहाँ दे रहे हैं :—

"हिन्दी के सार्वदेशिक रूप के सम्बन्ध में जो कभी-कभी विचार विमर्श होता है वह मुझे कुछ चिन्ता में डाल देता है। यह ठीक निश्चय नहीं कर पाता कि यह विचार इस समय क्यों उठता है। मुझको ऐसा लगता है कि जिस प्रकार भाषा को हठात् संस्कृत शब्दों से बोझिल करने में उसको कृत्रिम बनाना होगा उसी प्रकार उसको कोई सार्वदेशिक रूप देना भी उसके सहज रूप को भ्रष्ट करके कृत्रिम बनाना होगा। हमारे सामने अँग्रेजी का उदाहरण है। वह अनेक देशों की भाषा है। एक प्रकार से सार्वभौम हो रही है और उसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। अँग्रेज़ इस बात को जानते हैं। उनको इससे प्रसन्नता होती है। परन्तु वे अपनी भाषा को अन्य भाषा-भाषियों की सुविधा की दृष्टि से नया रूप देने की बात नहीं सोचते। आख़िर हिन्दी में ऐसे कौन से दोष हैं जो भारत के अहिन्दी भाषी प्रदेशों के निवासियों के मार्ग में बाधक हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दी शब्दों के लिंगों का चर्चा किया जाता है। हिन्दी में दो ही लिंग हैं। इसलिए अजीव वस्तुओं के नामों को हठात् दो में से एक लिंग में डालना ही होगा। परन्तु यह बात दुनिया की और भाषाओं में भी है। हम चन्द्र को पुंलिग मानते हैं, शुक्र भी हमारे यहाँ पुंलिग है। अँग्रेजी में या तो मून और वीनस नपुंसक लिंग में आते हैं या विशेषतः कविता में स्त्रीलिंग में, इसकी कोई ख़ास कसौटी नहीं हो सकती। यह कहा जाता है

कि हिन्दी में क्रिया पदों में भी लिंग-भेद आते हैं, पर ऐसा केवल हिन्दी में नहीं है, मराठी में भी है। जो अ-संस्कृतमूलक शब्द हिन्दी में आ गए हैं उनके बहिष्कार के प्रश्न का विचार पागलपन है। उनको अलग करने का प्रयास हिन्दी को दुर्बल बना देगा, परन्तु हिन्दी का यदि कोई सार्वदेशिक रूप हो सकता है तो वह संस्कृतबहुल ही होगा। संस्कृतमूलक शब्द ही ऐसे हैं जो प्रचुर मात्रा में अहिन्दी प्रदेशों की भाषाओं में मिल सकते हैं। यह हो सकता है कि काल पा कर हिन्दी के रूप में कुछ परिवर्तन हो जाय। हिन्दी जीवित भाषा है और परिवर्तन जीवन का धर्म है। परन्तु कुछ थोड़े से लोग बैठ कर भाषा के रूप को बदलने का प्रयास करें यह हिन्दी की हत्या होगी। उसके रूप को शुद्ध बनाए रखना हिन्दी भाषियों का कर्त्तव्य है। तभी वह हिन्दी रह जायगी। यह बात भी समझ में नहीं आती कि आखिर सार्वदेशिक रूप के स्थिर करने का प्रयास किसके आग्रह पर हो रहा है। इसका कोई भी प्रमाण और मानने का कोई भी विशेष कारण नहीं है कि किसी प्रदेश विशेष के लोग हिन्दी के वर्तमान रूप की कठिनाई के कारण उसको नहीं अपना रहे हैं। यदि हम अँग्रेज़ी को पचा सकते हैं तो हिन्दी को भी सीख सकते हैं। जो लोग हिन्दी का विरोध करते हैं वे हिन्दी के स्वरूप के कारण नहीं, प्रत्युत राजनीतिक या अर्द्ध-राजनीतिक कारणों से। उनका विरोध ज्यों का त्यों बना रहेगा जब तक कि उनके मन से वे राजनीतिक शंकायें दूर न हो जायँ जो आज उनको उद्विग्न कर रही हैं। हमको शान्ति और धैर्य के साथ उन भ्रान्त भावनाओं को दूर करना है। भाषा के रूप से छेड़छाड़ करना छोड़ दें, नहीं तो परिणाम यह होगा कि हम अपनी भाषा के रूप को बिगाड़ लेंगे, पर हिन्दी के प्रति जिन लोगों के मन में असद् भाव हैं उनकी प्रवृत्ति ज्यों की त्यों रह जायगी।

●

पुस्तक समीक्षा

(1) **तामिल साहित्य का नवीन इतिहास**—न० वी० राजगोपालन ; आशा प्रकाशन गृह, करौल बाग, नई दिल्ली ; पृ० 171, मूल्य 3 रु०

तमिल भाषा के साहित्य में रुचि रखने वाले अन्य भाषा-भाषियों को, हिन्दी के माध्यम से, उससे परिचित कराने का यह एक सफल प्रयास है। इस पुस्तक में लेखक ने अन्य भाषा-भाषियों की आवश्यकता तथा ग्राह्यता को दृष्टि में रखते हुए, तमिल भाषा और साहित्य का इतिहास, उससे द्रष्ट संस्कृति तथा साहित्य की समकालिक राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों पर सम्यक् रूप से विचार किया है।

संक्षिप्त तथा परिचयात्मक होने पर भी, यह पुस्तक समग्र रूप से सभी कालों के विवरण देने की चेष्टा करती है। तमिल साहित्य के छहों काल और उनका समाज, इन कालों के श्रेष्ठ कवि तथा अन्त में उन कालों का समग्र रूप से मूल्यांकन, इन्हीं कुछ शीर्षकों में लेखक साहित्य का परिचय देते हैं। संघकाल में तमिल का सुप्रसिद्ध व्याकरण तोलकाप्पियम तथा तमिल का महत् ग्रंथ तिरुक्कुरल उल्लेखनीय हैं। इस युग के प्रकरण में लेखक पुरानी द्रविड़ संस्कृति तथा सामाजिक जीवन का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करते हैं। बाद का युग 'जैन-बौद्ध काल' ख्यातिप्राप्त महाकाव्य 'शिलप्पतिकारम' का है। भक्ति काल में दक्षिण के प्रसिद्ध आड़वार और नायन्मार सन्तों का परिचय मिलता है। कम्बन काल में 'कम्ब रामायण' का तथा पुराण काल में तमिल साहित्य के विशिष्ट छोटे पुराणों का वर्णन है। आधुनिक काल में लेखक भारती आदि कवियों का वर्णन करते हैं जो देश के वैचारिक पुनरुत्थान के प्रतीक हैं।

इस पुस्तक में लेखक ने जगह-जगह पर तमिल के उद्धरणों का अनुवाद दिया है। लेखक आधुनिक काल में हुए शोध कार्य से अपनी बात प्रमाणित करना चाहते हैं और इस दिशा में वे काफी सफल हुए हैं। पुस्तक के आरम्भ में तमिल शब्द की व्युत्पत्ति, तमिल-भाषियों के मूल निवास तथा भाषा की उत्पत्ति के बारे में उन्होंने अत्यन्त विस्तृत रूप से विचार किया है। साथ ही

भक्तिकाल के वर्णन में लेखक ने भक्त कवियों की दार्शनिक पृष्ठभूमि का भी सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। आधुनिक युग के बारे में लेखक ने जो कुछ लिखा है, वह अपने में अपर्याप्त होते हुए भी अन्य पुस्तकों की तुलना में उपन्यास, आलोचना आदि विभिन्न विधाओं पर मौलिक रूप से परिचय देता है।

इसकी लेखन-शैली के बारे में एक बात द्रष्टव्य है। वे अपने हिन्दी साहित्य के ज्ञान के आधार पर जगह-जगह पर हिन्दी तथा तमिल भाषा की समान प्रवृत्तियों का निर्देश करते जाते हैं जिससे हिन्दी भाषी को इसे पढ़ने में सुविधा हो। पुस्तक की भाषा और शैली सुन्दर है।

(2) **कर्नाटक और उसका साहित्य**—एन० एस० दक्षिणमूर्ति-मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति—बेंगलौर 11—1964 पृ० 222, मू० 4 रु०

हिन्दी भाषा के माध्यम से भारतीय भाषाओं के साहित्यों का इतर भाषा-भाषियों को परिचय देने का यह भी एक प्रयास है। लेखक इस पुस्तक में कर्नाटक प्रदेश के इतिहास, राजनीति, समाज तथा आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों की लम्बी पीठिका में कन्नड़ भाषा तथा साहित्य का परिचय प्रस्तुत करते हैं। इससे पाठक कन्नड़ साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ कर्नाटक प्रांत के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित अन्य विषयों की भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। आपने भी इतिहास सम्बन्धी आधुनिक अनुसंधान और खोजों का आधार लेकर कर्नाटक की प्राचीनता 'कन्नड़' शब्द की व्युत्पत्ति आदि विषयों पर प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

कन्नड़ साहित्य का चार भागों में काल-विभाजन हुआ है। आरम्भकाल के प्रधान कवि पंप और रन्न हैं। इसी युग को लेखक कन्नड़ साहित्य का स्वर्ण-युग कहते हैं। पूर्व भक्तिकाल वीर शैव भक्त कवियों का युग है। इस युग में 'वचन' काव्य के संत कवि बसवेश्वर, अक्क महादेवी तथा प्रबन्धकार नेमिचन्द्र प्रसिद्ध हैं। उत्तर भक्तिकाल कुमार व्यास, पुरन्दर दास, कनक दास आदि वैष्णव भक्त कवियों का युग है। इसी युग में वचनकार सर्वज्ञ भी हैं। आधुनिक काल के वर्णन में लेखक ने कविता, उपन्यास, नाटक आदि सभी साहित्यिक विधाओं का विस्तृत परिचय दिया है। यह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इतर भाषा-भाषियों को पुराने साहित्य की अपेक्षा आधुनिक साहित्य-धारा में ही अधिक रुचि हो सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक की भाषा, शैली आदि सरल, सुबोध, सुन्दर हैं। लेखक ने विषय का निर्वाह भी खूबी के साथ किया है।

हिन्दी साहित्य की समृद्धि के लिए भारतीय भाषा-साहित्यों से सम्बन्धित ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है। हम दक्षिण भारत की दो समृद्ध भाषाओं पर लिखी, इन दोनों पुस्तकों का स्वागत करते हैं। —वी० रा० ज

3. **प्रबोध-नाटक रूपान्तरकार स्व० महाराज जसवन्तसिंह (जोधपुर)**
सम्पादक डा० सोमनाथ गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०

संस्कृत का "प्रबोध-चन्दोदय" नाटक अपनी लोकप्रियता के कारण हिन्दी में अनेक बार अनुवादित हुआ। इन अनुवादों अथवा रूपान्तरों में महाराज जसवन्तसिंह के रूपान्तर का विशेष महत्व है। किन्तु इस रूपान्तर के स्वरूप के सम्बन्ध में सूफी आलोचकों एवं विद्वानों के मन में बहुत भ्रम है। महाराज कृत रूपान्तर प्रबोध-चन्द्रोदय का सीधा-सादा अनुवाद नहीं है। जब कि बहुतों के मन में इसके सटीक अनुवाद होने का भ्रम बैठा हुआ है। डा० सोमनाथ गुप्त ने प्रस्तुत संस्करण में इस भ्रम के निराकरण का प्रयास किया है। महाराज जसवन्तसिंह कृत 'प्रबोध नाटक' में तो कथा वार्ता की शैली में "नाटक" के मूल विषय को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है। 'प्रबोध-नाटक' का मूलपाठ इस कथन की पुष्टि करेगा। डा० सोमनाथ गुप्त का प्रयास यहीं तक सीमित नहीं है। इन्होंने जसवन्त कृत रूपान्तर को एक नाटकीय स्वरूप भी दिया है। मूलपाठ को अंकों में विभाजित करके, यथास्थान मंगलपाठ, प्रस्तावना, विष्कंभ, प्रवेशक आदि नाटकीय तत्वों का समावेश करके इन्होंने शिथिल कथावस्तु को गति दे दी है। सम्पाद्य में सम्पादक का इतना प्रवेश उसके निजी व्यक्तित्व और साहस का द्योतक है।

लेखक द्वारा लिखी गयी भूमिका विषय को समझने में अत्यन्त उपादेय है। संक्षेप में प्रतीक नाटकों की चर्चा, हिन्दी में उनकी परम्परा का उल्लेख भी भूमिका-भाग में कर दिया गया है।

महाराज जसवन्तसिंह कृत 'प्रबोध-नाटक' और डा० सोमनाथ गुप्त द्वारा उसको प्रदान किया गया नाटकीय स्वरूप—दोनों ब्रजी में है। भाषा पर भी सम्पादक का विशेष ध्यान है।

—च० स०

गवेषणा

केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल के द्वारा प्रकाशित

शोध-पत्रिका

उद्देश्य :

१. विभिन्न स्तरों की हिन्दी शिक्षण सम्बन्धी समस्याओं और पाठ्य-समग्री पर खोज पूर्ण लेख प्रकाशित करना।

२. हिन्दी तथा अन्य भाषाओं से सम्बद्ध भाषाविज्ञानिक शोधात्मक लेख प्रकाशित करना।

३. भारतीय साहित्य और संस्कृति सम्वन्धी तुलनात्मक और स्वतन्त्र शोध लेख प्रकाशित करना।

४. भारत के विभिन्न भाषा क्षेत्रों में साहित्यिक और सांस्कृतिक समन्वय स्थापित करने की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने वाली शोधपूर्ण सामग्री प्रकाशित करना।

५. केन्द्रीय हिन्दी संस्थान में सम्पन्न होने वाली संगोष्ठियों, व्याख्यानों और अनुसंधान कार्यों का परिचय देना।

नियम :

१. गवेषणा के प्रतिवर्ष दो अंक क्रमशः मार्च और सितम्बर मास में प्रकाशित होंगे।

२. गवेषणा का वार्षिक शुल्क ६ रुपया होगा। परन्तु संस्थान के छात्र इसे ४ रुपये में प्राप्त कर सकेंगे। पुस्तक विक्रेताओं को कम से कम १० प्रतियाँ लेने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा।

३. गवेषणा में संस्थान के अध्यापक तथा शोधकर्त्ताओं के लेख प्रकाशित होंगे तथा अन्य विद्वानों के शोधात्मक लेखों का भी स्वागत किया जाएगा। किसी लेख को प्रकाशित करने का निर्णय सम्पादक मण्डल करेगा।

४. प्रकाशन के लिए भेजे जाने वाले लेख काग़ज़ के एक पृष्ठ पर टंकित या साफ़ लिखे होने चाहिए ।
५. अस्वीकृत लेख, पर्याप्त डाक टिकट भेजने पर लेखकों को वापस भेजे जाएँगे ।
६. सम्पादक की अनुमति के बिना 'गवेषणा' में प्रकाशित लेखों या उनके अंशों का अन्यत्र प्रकाशन नहीं किया जा सकेगा ।
७. अन्य शोध संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों के द्वारा प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं के साथ 'गवेषणा' का विनिमय किया जा सकेगा ।
८. 'गवेषणा' में भाषा-शिक्षण तथा साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों पर परिचयात्मक तथा आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी प्रकाशित हो सकेंगी । इसके लिए पुस्तक की दो प्रतियाँ प्रेषित करना आवश्यक होगा ।

—व्रजेश्वर वर्मा
सचिव
के० हि० शि० मंडल